मनुष्यके आध्यात्मिक पुनरुत्थानके लिए समर्पित

ज्योति शिखा

जीवन जागृति केन्द्र, बम्बई

"ज्योति शिखा"

आचार्य श्री रजनीश की अमृतवाणी का त्रैमासिक संकलन

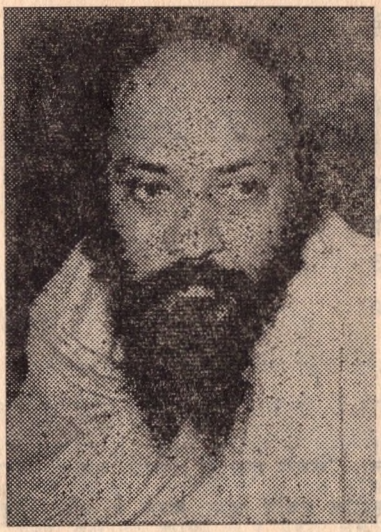

- चतुर्थ संकलन
- मार्च, १९६७
- मानार्ह संपादक :

  श्री जटुभाई महेता

- संपादक मंडल :

  श्री दुर्लभजी भाई खेताणी

  श्री गुलाबचंद त. शेठ

  श्री रिषभदास रांका

  श्रीमती पूर्णिमाबहन पकवासा

- मुद्रक–प्रकाशक:

  श्री रमणलाल सी. शाह,

  जीवन जागृति केन्द्र,

  ५०५, कालबादेवी, बंबई–२

- मुद्रणस्थान:

  स्टेट्स पीपल प्रेस ,

  घोगा स्ट्रीट, बम्बई १

- मूल्य : वार्षिक रु. ५–००

  एक प्रति: रु. १–२५

हथौड़े और निहाई

सहनशीलता जिसमे नहीं है, वह शीघ्रही टूट जाता है। और जिसने सहनशीलता के कवच को ओढ़ लिया है, जीवन में प्रतिक्षण पड़ती चोटें उसे और भी मजबूत कर जाती हैं।

मैंने सुना है :
एक व्यक्ति किसी लुहार के द्वार से
गुजरता था। उसने निहाई पर
पड़ते हथौड़े की चोटों को सुना, और
भीतर झांककर देखा। उसने देखा कि
कोने में बहुत से हथौड़े टूटकर और
विकृत होकर पड़े हुए हैं। समय और
उपयोग ने ही उनकी ऐसी गति की
होगी। उस व्यक्ति ने लुहार से पूछा:
"इतने हथौड़ों को इस दशा तक
पहुँचाने के लिये कितनी निहाइयों
की आपको जरूरत पड़ी ?"

वह लुहार हँसने लगा और बोला: "केवल एक ही। मित्र, एक ही निहाई सेकड़ों हथौड़ों को तोड़ डालती है, क्योंकि हथौड़े चोट करते हैं, और निहाई सहती है।"

यह सत्य है कि अंतमें वही जीतता
है, जो चोटों को धैर्य से स्वीकार करता
है। निहाई पर पड़ती हथौड़ों की चोटों
की भांति ही उसके जीवन में भी चोटों
की आवाज तो बहुत सुनी जाती है,
लेकिन अंततः हथौड़े टूट जाते हैं, और
निहाई सुरक्षित बनी रहती है।
('पथ के प्रदीप' से)

आचार्य श्री रजनीश

सूचना :
आचार्य श्री रजनीशजी के आगामी कार्यक्रमों की जानकारी के लिये कृपया अंतिम पृष्ठ देखें।

सत्य के अज्ञात सागर का आमंत्रण

(अहमदनगर में प्रवचन)

संकलन : श्री अनूप सेठ

मैं विचार करता हूं कि किस संबंध में आपसे बातें करूं? बातें इतनी ज्यादा हैं और दुनियां इतनी बातों से भरी है कि संकोच होना स्वाभाविक है। बहुत विचार हैं, बहुत उपदेश हैं सत्य के संबंध में। बहुत से सिद्धांत हैं। डर लगता है कि कहीं मेरी बातें भी उस बोझ को और न बढ़ा दें, जो कि मनुष्य के ऊपर वैसे ही काफी है। बहुत संकोच अनुभव होता है। कुछ भी कहते समय डर लगता है कि कहीं वह बात आपके मन में बैठ न जाय। बहुत डर लगता है कि कहीं मेरी बातों को आप पकड़ न लें, बहुत डर लगता है कि कहीं वह बात आपको प्रिय न लगने लगे, कहीं वह आपके मन में स्थान न बना ले। क्योंकि मनुष्य विचारों और सिद्धांतों के कारण ही पीड़ित और परेशान है, उपदेशों के कारण ही वह बंधा है और परतंत्र है। मनुष्य के जीवन में दूसरे के द्वारा कही गई और दी गई बातें ही उस सत्य के बीच बाधा बन जाती हैं, जो कि स्वयं उसके ही पास हैं और सदा से हैं।

ज्ञान बाहर से उपलब्ध नहीं होता है और जो तथाकथित ज्ञान बाहर से उपलब्ध हो जाये वह ज्ञान को रोकने में कारण हो जाता है। मैं भी बाहर हूं, मैं जो भी कहूंगा वह भी बाहर है। उसे फिर ज्ञान मत समझ लेना। वह ज्ञान नहीं है। वह आपके लिये ज्ञान नहीं हो सकता है। जो भी कोई दूसरा आपके लिये देता हो वह आपके लिये ज्ञान नहीं हो सकता है। हां, उससे एक खतरा हो

सकता है कि वे बातें आपके अज्ञान को ढंक दें। आपका अज्ञान आवृत्त हो जाये, छिप जाये और आपको ऐसा प्रतीत होने लगे कि मैंने कुछ जाना है। सत्य के संबंध में यह जानकर भ्रम पैदा हो जाता है कि मैंने सत्य को जाना है। सत्य के संबंध में पढ़कर यह धारणा बन जाती है कि मैं सत्य को जान गया हूं। और जिनकी ऐसी धारणायें बन जाती हैं, वे फिर सत्य को पाने में असमर्थ हो जाते हैं और पंगु हो जाते हैं।

सबसे पहले यह कह दूं कि बाहर से जो भी आता है, कुछ भी ज्ञान नहीं हो सकता है। वह सूचनाओं से अधिक नहीं है। और सूचनायें सत्य नहीं दे सकती हैं। और स्वाभाविक है कि मुझसे पूछा जा सकता है कि फिर मैं क्यों बोलूं, मैं क्यों कुछ कहूं ? मैं बाहर हूं और निश्चय ही आपसे कुछ कहूंगा। क्या कहूंगा ? सत्य नहीं, बस सत्य के मार्ग की बाधायें हटाने के लिये कहूंगा। मैं इतनी ही बात कहना चाहता हूं कि बाहर जो भी है वह सब बाहर का समझें और ज्ञान नहीं समझें। वह चाहे मेरा हो, वह चाहे किसी और का हो। ज्ञान मनुष्य के भीतर उसका स्वरूप है। उस स्वरूप को जानने के लिये बाहर खोजने की कोई भी जरुरत नहीं है। बाहर खोजते हैं, इससे ही तो उसे खोते हैं। बाहर से जो भी सीख लेंगे, वही बाधा बन जायेगा। यदि उस सत्य को जानना हो, जो हमारे भीतर है, तो उसे अनसीखा करना होगा, उसे बाहर करना होगा, उसे छोड़ देना होगा। जिन्हें जानना है, उन्हें शास्त्र को छोड़ देना होता है। जो शास्त्र को पकड़ेंगे, सत्य उन्हें उपलब्ध नहीं होगा। हम सारे लोग शास्त्र को पकड़े बैठे हैं। दुनियां में जो इतने उपद्रव हैं वह इन शास्त्रों को पकड़ने से हैं। यह जो हिन्दू हैं, यह जो मुसलमान हैं, यह जो जैन हैं, यह ईसाई हैं, यह पारसी हैं, यह कौन हैं, इनको कौन लड़ाता है, इनको कौन एक दूसरे से अलग कर रहा है ? शास्त्र अलग कर रहे हैं, शास्त्र लड़ा रहे हैं। सारी मनुष्यता खंडित है, क्योंकि कुछ किताबें, कुछ लोग पकड़े हुये हैं, कुछ दूसरी किताबें, कुछ दूसरे लोग पकड़े हुए हैं। किताबें इतनी मूल्यवान हो गई हैं कि वे मनुष्य की हत्या कर सकती हैं और पिछले हजारों वर्षों से हमने लाखों-लाखों लोगों की हत्यायें की हैं, क्योंकि किताबें बहुत मूल्यवान हैं, क्योंकि किताबें बहुत उच्च हैं। किताबों के लिये, मृत किताबों के लिये मनुष्य के भीतर जो परमात्मा बैठा है, वह कभी भी अपमानित किया जा सकता है, उसकी हत्या की जा सकती है ! क्योंकि शास्त्र बहुत मान्य हैं इसलिये मनुष्यता को अमान्य किया जा सकता है, अस्वीकार किया जा सकता है। यह हुआ है, यह आज भी हो रहा है। मनुष्य

मनुष्य के बीच जो दीवार है, वह शास्त्रों की है। और आश्चर्य तो यह है कि कभी यह ख्याल पैदा नहीं होता कि जो शास्त्र मनुष्य को मनुष्य से अलग करते हों, वह मनुष्य को परमात्मा से कैसे जोड़ सकते हैं? जो मनुष्य को मनुष्य से ही तोड़ देता हो वह मनुष्य को परमात्मा से जोड़ने की सीढ़ी कैसे बन सकती है? लेकिन हम अपने अज्ञान में सोचते हैं, शायद शास्त्रों में कुछ मिले। जरूर कुछ मिलता है। शब्द मिल जाते हैं, सत्य को दिये हुए शब्द मिल जाते हैं और शब्द स्मरण हो जाते हैं। वह हमारी स्मृति में प्रविष्ट हो जाते हैं और स्मृति को हम ज्ञान समझ लेते हैं। स्मृति ज्ञान नहीं है। कुछ चीजें सीख लेना, स्मरण कर लेना ज्ञान नहीं है। ज्ञान का जन्म बहुत दूसरी बात है, स्मृति का प्रशिक्षण बहुत दूसरी बात है। स्मृति के प्रशिक्षण से कोई पंडित हो सकता है, लेकिन उससे प्रज्ञा जागृत नहीं होती है। स्मृतिजन्य पांडित्य जड़ता लाता है जबकि ज्ञान तो जीवन में आमूल क्रांति कर देता है। ज्ञान ही जीवन को जीवन्त बनाता है। तो मैं कोई उपदेश देने का, किन्चित भी पाप करने को तैयार नहीं हूं। जो भी उपदेश देते हैं, वे हिन्सा करते हैं, वे पाप करते हैं। मित्र, मैं उपदेश देने को नहीं हूं। मैं उपदेशक नहीं हूं। मैं तो सत्य के प्रति स्वयं कैसे जागा, बस वही आपसे कहना चाहता हूं। वह भी इसलिये नहीं कि आप उसे मान लें, वरन् इसलिये कि आप उसे सोचें और हो सकता है कि उसके प्रति जागने में वह सत्य आपमें भी जाग आवे। क्योंकि निष्पक्ष चित्त से किसी भी विचार के प्रति जागने से स्वयं में निश्चय ही बहुतसी अंतर्दृष्टियों का जन्म होता है। जो भी कहता है कि मेरी बात मान लो वह आपका दुश्मन है, जो भी कहता है श्रद्धा कर लो वह घातक है। वह आपके जीवन को विकसित होने से रोकेगा। जो भी कहता है विश्वास करो वह विवेक के जागरण में बाधक हो जायेगा। और मनुष्य ने बहुत विश्वास किया है और विश्वास का यह परिणाम है जो कि हमारी दुनिया है। इससे बदतर दुनिया और हो सकती है क्या? इससे ज्यादा रुग्ण और अस्वस्थ मनुष्यता और क्या हो सकती है?

इस बीमार सभ्यता के मूल में वे विश्वासी लोग हैं, जिन्होंने सदा आंख बन्द करके श्रद्धा की है और स्वयं के विवेक को प्रसुप्त रखा है। स्वयं के प्रति इससे बड़ा कोई अपराध नहीं है क्योंकि शेष सब अपराध इसी अंधेपन से पैदा होते हैं। मनुष्य की पंगु स्थिति उसके विवेक के लंगड़ेपन से ही उत्पन्न हुई है। और हम आज भी विश्वास किये जा रहे हैं। कोई मन्दिर में, कोई मस्जिद में, कोई चर्च में, कोई इस किताब में, कोई उस किताब में, कोई इस

मसीहा म, कोई उस मसीहा में, सारी दुनिया विश्वास करती है लेकिन विश्वास के बावजूद यह परिणाम है। लेकिन विश्वास का जहर पिलानेवाले और उसके आधार पर ही शोषण करनेवाले कहेंगे कि विश्वास कम है इसलिये ही यह परिणाम है। विश्वास से पैदा हुये अंधेपन को भी वे विश्वास की कमी के कारण बतलाते हैं। उनका बतलाना नहीं, किन्तु हमारा उसे मान लेना तो एक अविश्वसनीय चमत्कार ही है! मैं कहता हूं कि परमात्मा करे कि विश्वास बिल्कुल शून्य हो जावे। क्योंकि विश्वास की पूर्णता विवेक की मृत्यु के अतिरिक्त और क्या हो सकती है? विश्वास पूरा हुआ तो मनुष्य गया, क्योंकि विवेक भ्रष्ट हो जायेगा। विश्वास विवेक का विरोधी है। जब भी कोई कहता है कि हमारी बात मान लो, तभी वह यह कहता है कि तुम्हें खुद जानने की कोई जरुरत नहीं है। जब भी कोई कहता है कि विश्वास कर लो तो वह यह कहता है कि तुम्हें अपने पैरों की कोई आवश्यकता नहीं है। जब भी कोई कहता है कि श्रद्धा करो तब वह यह कहता है कि तुम्हें अपनी आंखों की जरूरत नहीं है, हमारे पास आंख है।

मैंने एक छोटीसी कहानी सुनी है। एक गांव में एक आदमी की आंखें चली गईं। वह बूढ़ा था, बहुत बूढ़ा था। उसकी कोई ९० वर्ष उम्र थी। उसके घर के लोगों में उसके आठ लड़के थे। उन आठों ने उससे प्रार्थना की कि आंखों का इलाज करवा लिया जाय। फिर सब कहते हैं कि आंखें ठीक हो जायेंगी। लेकिन उस बूढ़े आदमी ने कहा कि मुझे आंखों की क्या जरुरत है? मेरे आठ लड़के हैं, उनकी सोलह आंखें हैं। उनकी आठ पत्नियां हैं, उनकी सोलह आंखें हैं। ऐसे मेरे पास बत्तीस आंखें हैं। फिर मुझे खुद आंखों की क्या जरूरत है? मुझे क्या जरूरत है आंखों की? मैं अंधा भी जी लूंगा। उन लड़कों ने बहुत प्रार्थना की लेकिन वह बूढ़ा माना नहीं। उसने कहा मुझे जरूरत ही क्या है, मेरे घर में मेरी बत्तीस आंखें हैं। लेकिन एक रात को भवन में आग लग गई। वे बत्तीस आंखें बाहर हो गईं, वह बूढ़ा भीतर रह गया। वे बत्तीस आंखें बाहर हो गईं और तब उसे याद आया कि अपनी ही आंख काम आती है, किसी और की आंख काम नहीं आ सकती। अपना ही विवेक काम आता है, किसी दूसरे से मिले हुये विश्वास काम नहीं आते।

जीवन में चारों ओर चौबीस घंटे आग लगी हुई है। हम चौबीस घंटे जीवन की आग में खड़े हुये हैं। वहां अपनी ही आंख काम आ सकती है, किसी और की नहीं। न महावीर की, न कृष्ण की, न बुद्ध की, न राम की, न मेरी

और न किसी ओर की। किसी की आंख किसी दूसरे के काम नहीं आ सकती। लेकिन तथाकथित धार्मिक लोग, धर्म के व्यवसायी, धर्म के नाम पर शोषण करनेवाले लोग यह समझाते हैं कि विश्वास करो, विवेक की क्या जरुरत है, तुम्हें विचार की क्या जरूरत है? विचार तो उपलब्ध हैं, दिव्य विचार उपलब्ध हैं, इनपर विश्वास करो और हम उन विचारों पर विश्वास करते रहे हैं और निरन्तर नीचे से नीचे चले गये हैं। हमारी चेतना निरंतर नीचे से नीचे चली गई है। विश्वास से कोई चेतना ऊपर नहीं उठती। विश्वास तो आत्महत्या है, इसलिये मैं नहीं कहता कि किसी बात पर विश्वास करो। मैं कहता हूं, विश्वास से अपने को मुक्त कर लो। विश्वास से मुक्ति में ही विवेक का जागरण है।

जिस व्यक्ति को भी सत्य को जीवन में अनुभव करना हो और जिस व्यक्ति को भी प्रभु के प्रकाश और प्रेम को अनुभव करना हो, वह स्मरण रखे कि सब भांति के विश्वासों से स्वतंत्र हो जाना उस मार्ग पर पहली और अनिवार्य शर्त है। स्वतंत्रता चित्त की—स्वतंत्रता विवेक की। स्वतंत्रता पहली शर्त है सत्य को जानने के लिये। और जिसका चित्त स्वतंत्र नहीं है वह स्मरण रखे, वह और कुछ भी जान ले, सत्य को नहीं जान सकेगा। सत्य के द्वार पर प्रवेश पाने के लिये चेतना का स्वतंत्र होना अत्यंत अनिवार्य है। विश्वास बांधते हैं, परतंत्र करते हैं। श्रद्धायें बांधती हैं, परतंत्र करती हैं। शास्त्र और सिद्धांत बांधते हैं और परतंत्र करते हैं। कितने आश्चर्य की बात है, एक घर में आप पैदा हो जाते हैं संयोग से, हिन्दू कहो या मुसलमान कहो, और जन्म के साथ आपको विश्वास दे दिया जाता है और फिर जीवन भर आप उससे बंधे रहते हैं। फिर जीवन भर आप कहते हैं कि मैं तो हिन्दू हूं, मुसलमान हूं, ईसाई हूं, जैन हूं। कहीं जन्म के साथ कोई ज्ञान मिलता है? जन्म का ज्ञान से कोई संबंध है? पैदाइश से धर्म का कोई सबंध हो सकता है? अगर पैदाइश से ही दुनिया में लोग धार्मिक हों तो सारी दुनिया धार्मिक होनी चाहिये। यह दुनिया कितनी धार्मिक है, क्या यही इस बात का सबूत नहीं है कि जन्म के साथ धर्म का कोई संबंध नहीं हो सकता है? लेकिन हम सब जन्म से धार्मिक बने हुये हैं और ये जन्म से बने हुये धार्मिक ही सारे उपद्रव के कारण हैं। दुनिया में इनके कारण ही धर्म का अवतरण नहीं हो पाता है। जन्म से कोई धार्मिक नहीं होता है, जीवन से धार्मिक होता है। जन्म से किसी का कोई संबंध किसी विश्वास से होने का कोई कारण नहीं है। लेकिन इसके पहले कि हमारा विवेक जागृत हो, हमारा समाज, हमारा परिवार, हमारे मां-बाप, शिक्षक, उपदेशक हमें

विश्वास पकड़ा देते हैं। इसके पहले कि विवेक मुक्त आकाश में विचरण करे, विश्वास की जंजीरें जमीन पर रोक लेती हैं और बाध लेती हैं, फिर जीवन भर हम उसी विश्वास के घेरे में भटकते हैं, फिर हम कभी सोच नहीं पाते हैं। जिस आदमी का कोई भी विश्वास है, जिसकी कोई श्रद्धा है वह आदमी कभी विचार नहीं कर सकता क्योंकि हमेशा वह अपने विश्वास के बिम्ब से ही देखना शुरू करता है। वह जो भी विचार करेगा वह पक्षपातपूर्ण होगा, वह जो भी विचार करेगा उसकी पूर्व धारणा में आबद्ध होगा, वह जो भी विचार करेगा वह हमेशा उधार और झूठा होगा। वह उसका निज का नहीं हो सकता है और जो विचार अपना न हो और जो विवेक अपना न हो वह असत्य है। उसकी कोई सचाई नहीं है। वह कोई वास्तविक आधार नहीं है जिस पर जीवन खड़ा किया जा सके। मैं देश भर में लोगों से यही पूछ रहा हूं कि आपके विश्वास तो बहुत हैं, कोई विचार भी है? वे कहते हैं : बहुत विचार हैं। मैं पूछता हूं : कोई एकाध भी आपका अपना है या कि सब दूसरों के हैं और उधार हैं? जो सम्पत्ति दूसरे की है उससे आपके जीवन में कौनसा त्राण मिलेगा? लेकिन हमारी सारी विचार की संपत्ति उधार है और पराई है, वह दूसरे की है। यह चित्त की अत्यंत गहरी परतंत्रता है और चित्त को सबसे पहले इस परतंत्रता से मुक्त होना चाहिये। मनुष्य का नया जन्म तभी संभव होता है, जब उसकी चेतना उधार विचारों और पराई धारणाओं से मुक्त होती है।

सत्य की खोज में स्वतंत्रता को मैं पहला तत्त्व कहता हूं। जो भी सत्य की खोज में जाना चाहते हैं, जिनके भीतर भी प्यास जगी है कि वे जानें कि जीवन का अर्थ क्या है, जिनके भीतर भी यह अभीप्सा चमकी है कि वे समझें कि यह सब जो है मेरे चारों तरफ फैली सत्ता, उसका प्रयोजन क्या है, उन सबके लिये स्वतंत्रता जीवन साधना की अनिवार्य सीढ़ी है। यदि वे चाहते हैं कि जानें कि क्या है अमृत, और क्या है आनन्द और क्या है परमात्मा, तो स्मरण रखें, पहली शर्त, पहली भूमिका होगी कि वे अपने चित्त को स्वतंत्रता की तरफ ले जायें, चित्त को स्वतंत्र पूर्ण रूप कर दें। अगर अंततः स्वतंत्रता चाहिये तो प्रथम चरण में ही स्वतंत्रता के आधार देने होंगे। लेकिन हम सारे बंधे हुये लोग हैं, हम सारे लोग किसी न किसी विश्वास से बंधे हुये हैं। और क्यों बंधे हुये हैं, इसलिये बंधे हुये हैं कि ज्ञान के लिये साहस और श्रम करना होता है और विश्वास के लिये कोई साहस और कोई श्रम करने की जरुरत नहीं। विश्वास करने के लिये किसी तरह की तपश्चर्या की, किसी तरह की साधना की

कोई जरूरत नहीं। किसी दूसरे पर विश्वास कर लेने के लिये निश्चय ही आपके भीतर साहस की, श्रम की, तपश्चर्या की अत्याधिक कमी अवश्य है। गहरा आलस्य और तामसिक वृत्ति हो, तो विश्वास सहज हो जाता है। जो खुद नहीं खोज पाता है वह मान लेता है कि जो दूसरे कहते हैं, ठीक ही कहते हैं। सत्य के प्रति जिसके मन में कोई श्रद्धा नहीं है, वही सत्य के संबंध में प्रचलित सिद्धांतों में श्रद्धा कर लेता है। सत्य के प्रति जिसकी प्यास सच्ची नहीं है वही केवल दूसरे के दिये हुये विचारों पर विश्वास कर लेता है। अगर सत्य की अभीप्सा हो तो कोई किसी धर्म में, कोई किसी सिद्धांत में, कोई किसी संप्रदाय में आबद्ध नहीं हो सकता है। वह तो खोजेगा, निज खोजेगा, अपने सारे प्राणों की शक्ति लगाकर खोजेगा और जो इस भांति खोजता है वह निश्चित पा लेता है, और जो भीतर विश्वास करता चला जाता है वह जीवन को खो देता है लेकिन जीवन सत्य उसे उपलब्ध नहीं होता है। स्वयं की खोज और श्रम ही तो सत्य बनता है। जो खोजता ही नहीं और मुफ्त में पा लेना चाहता है, वह भूल में है। सत्य तो मुफ्त में नहीं मिलेगा, हां, उसका स्वयं का जीवन जरूर मुफ्त में खो जावेगा। अपने आलस्य और प्रमाद में हम किसी के चरण पकड़ लेते हैं, हम किसी की बांह पकड़ लेना चाहते हैं और जीवन के समाधान को उपलब्ध कर लेना चाहते हैं। किसी गुरु की, किसी साधु की, किसी संत की छाया में हम भी तैर जाना चाहते हैं, यह असंभव है, यह बिल्कुल ही असंभव है। इससे ज्यादा असंभव कोई दूसरी बात नहीं हो सकती। यह तो आंतरिक परतंत्रता है। यह तो आत्मिक दासता है। इसलिये, किसी की शरण से नहीं बंधना है, वरन् अशरण होना है। यही प्रश्न है कि कैसे हमारा चित्त स्वतंत्र हो, कैसे हम चित्त को स्वतंत्र करें और मुक्त करें? यह बंधा हुआ चित्त, जो ढांचों में कैद है इसे हम इन पिंजड़ों के बाहर ले जायें क्योंकि मनुष्य के सामने सबसे बड़ी समस्या उसके चित्त-मुक्ति की और स्वतंत्रता की है।

प्रश्न परमात्मा का नहीं है, प्रश्न चित्त की स्वतंत्रता का है। मेरे पास लोग आते हैं, पूछते हैं : ईश्वर है? तो मैं उन्हें कहता हूं कि ईश्वर की फिक्र छोड़ दो। मुझे यह बताओ कि तुम्हारा चित्त स्वतंत्र है? कोई मुझसे पूछे आकाश है, कोई मुझसे पूछे सूरज है तो इसका क्या अर्थ हुआ? यही न कि उसकी आंखें बंद हैं? इसलिये उल्टे मैं ही उससे पूछूंगा कि क्या तुम्हारी आंखें खुली हैं? सूर्य तो है, लेकिन सूर्यके होने के लिये आंखों का खुला होना चाहिये। परमात्मा तो है, लेकिन परमात्मा के होने के लिये चित्त का खुला होना चाहिये।

बंधे हुये चित्त और बंद आंखें उसे कैसे देख सकती हैं। जो विश्वास में सोये हैं उनकी आंखें बंद हैं और चित्त बंधा हुआ है। जिसने कोई भी मान्यता बना ली है, कोई भी आस्था बना ली है, कोई भी धारणा बना ली है, जिसने जानने के पहले कोई मान्यता बना ली है उस आदमी का चित्त बंद हो गया है, उसने अपने द्वार बंद कर लिये और अब वह पूछता है कि परमात्मा है? सत्य है? निश्चित ही बंद मन के लिये न सत्य है, न परमात्मा है।

असली प्रश्न, असली सवाल, असली समस्या ईश्वर के होने न होने की नहीं है, न आत्मा के होने न होने की है, न सत्य के होने और न होने की है। असली समस्या है कि क्या वह चित्त आपके पास है जो जान सके। उस चित्त के बिना कोई मार्ग जीवन की उपलब्धि का, जीवन की सार्थकता को जानने का नहीं है, न कभी था और न कभी हो सकता है। केवल वही जान सकते हैं जिनका विवेक परिपूर्ण रूप से मुक्त होकर जानने में समर्थ है। कैसे हम अपने चित्त को मुक्ति की ओर ले जायें, कैसे उसके द्वार खोलें, कैसे उसकी खिड़कियां खोलें ताकि उनसे प्रकाश आ सके, कैसे हमारी आंख खुलें और हम देख सकें उसे 'जो है'। जब भी हम कुछ मान लेते हैं तो हमारी आंख पर पर्दा पड़ जाता है और हम उसे देख ही नहीं पाते जो कि है, बल्कि उसे देखने लगते हैं जिसे कि हम मानते हैं। लोगों ने कृष्ण के दर्शन किये हैं, राम के दर्शन किये हैं, क्राइस्ट के दर्शन किये हैं, बुद्ध के दर्शन किये हैं। ये दर्शन हो सकते हैं अगर वे किसी बात को मान लें, विश्वास कर लें, आग्रहपूर्वक चित्त में उसे ग्रहण कर लें और निरंतर उसका स्मरण करें और निरंतर उसका विचार करें और अपने को आत्म सम्मोहित कर लें। उपवास से और तप से, निरंतर चिन्तन और मनन् से, निरंतर विचार और विश्वास से अगर वे अपने को पूरा का पूरा प्रसुप्त कर लें तो उन्हें अपनी कल्पना के दर्शन हो सकते हैं। किन्तु ऐसा दर्शन सत्य का दर्शन नहीं है। वह हमारी ही कल्पना का साक्षात है। वह हमारे ही विचार का दर्शन है। वह हमारी ही मान्यता का प्रक्षेपण है। वह हमारा ही स्वप्न है जो हमने पैदा किया है। इसलिये दुनिया में अलग अलग धर्मों के लोग, अलग अलग ढंग से दर्शन कर लेते हैं। वे दर्शन वास्तविक नहीं। वास्तविक दर्शन के लिये तो जरूरी है, परमात्मा जैसा है उसे जानने के लिये, सत्य जैसा है उसे जानने के लिये जरूरी है कि हम अपनी सारी कल्पनाओं को और धारणाओं को छोड़ दें। हमारी सारी कल्पनायें शून्य हो जायें, हमारे सारे विचार विलीन हो जायें, हमारे अपने भीतर कोई मान्यता न हो और फिर हम देख सकेंगे कि मान्यताशून्य

चित्त का जो दर्शन है वह सत्य का दर्शन है। मान्यता के आधार पर जो दर्शन है वह अपनी ही कल्पना का प्रक्षेप है, अपनी ही कल्पना का विस्तार है। इस तरह का दर्शन धार्मिक दर्शन नहीं है, इस तरह का दर्शन एक मानसिक कल्पना और स्वप्न सृष्टि है। यह अनुभव की वास्तविकता नहीं है, यह अनुभव की स्वयं ही बनाई गई अपनी ही मानसिक सर्जना है। हमने ही उसे निर्मित किया है और बहुत लोगों ने इस भांति परमात्मा के दर्शन किये हैं, किन्तु वे परमात्मा के दर्शन नहीं हैं। क्योंकि परमात्मा का कोई रूप नहीं है और उसका कोई आकार नहीं है। सत्य की कोई मूर्ति नहीं है और सत्य के कोई गुण नहीं हैं। उस सत्य को, जो समस्त में व्याप्त है, जानने के लिये शून्य और शांत हो जाना जरूरी है। अगर मेरा चित्त बिल्कुल निर्विकल्प हो, शांत और सरल हो, अगर मेरे चित्र में कोई विचार न बहते हों, कोई कल्पना न उठती हो, अगर मेरा चित्त बिल्कुल ही मौन हो तो उस मौन में ही वह जाना जाता है, जो है। उस मौन में भी कुछ जाना जाता है, उस शून्य में भी किसी से संबंध और संपर्क हो जाता है। उस शांति में ही कहीं न कहीं किसी अलौकिक सत्ता से संबंध स्थापित हो जाता है। वही संबंध, वही संपर्क, वही समझ, वही बोध, वही प्रतीति परमात्मा की प्रतीति है। उस सब को जानने के लिये जरूरी है कि जानने के पूर्व ही जो जाना हुआ जान लिया गया है, उसे विदा दे दी जाये। इसे ही मैं तथाकथित ज्ञान से मुक्त होना कहता हूं। झूठे ज्ञान से सच्चा अज्ञान ही कहीं ज्यादा मित्र है। मिथ्या ज्ञान शत्रु है। जानने 'के लिये मैं नहीं जानता हूं' यह जानना अत्यंत हितकर है। इसलिये उचित है कि हम विश्वासों के मिथ्या जाल को तोड़ दें और शास्त्रों और सिद्धांतों की धूलि को भी स्वयं के चित्त दर्पण से झाड़े दें। आह! कितने कूड़े-करकट से भरे हैं हम? कितने ग्रसित हैं हम और कितने भरे हुए हम है? कितना ज्यादा विचार का ,सिद्धांत का, शास्त्र का, हमारे ऊपर भार है, हम उससे दबे जा रहे है। हजारों सालों से मनुष्य चिन्तन करता है और इन हजारों साल के चिन्तन का भार एक एक छोटे आदमी के सिर पर है। हजार हजार वर्षों में जो भी विचार हुये हैं, उनका भार हमारे ऊपर है। उस भार के कारण चित्त मुक्त नहीं हो पाता है, ऊपर नहीं उठता है। हम जब भी विचार करना शुरू करते हैं उसी भार के घेरे में घूमने लगते हैं। वह हमारा ढांचा है, उन्हीं में हम चलने लगते हैं जैसे कोल्हू का बैल चलता है अपने रास्ते पर, वैसे ही हमारा चित्त चलता है। इसके पहले कि किसी को सत्य के अज्ञात जगत् में प्रवेश करना हो, उसे सारे ज्ञात मार्गो को छोड़ देना

बहुत आवश्यक है। वह जो भी हम जानते हैं, उसे छोड़ देना जरूरी है ताकि, वह जाना जा सके, जो कि हम नहीं जानते हैं, अज्ञात के स्वागत में ज्ञात को हटना ही होता है। ज्ञात को जाने दें ताकि अज्ञात आ सके, जो भी हम मानते हैं, उसे हटा लेना है, ताकि उसका दर्शन हो सके, जो है। एक तो हौजों में भरा हुआ पानी होता है। ऊपर से पानी भर देते हैं। ईंट-गारे से जोड़ देते हैं हौज को, ऊपर से पानी भर देते हैं, एक कुयें का पानी होता है, उसमें जितनी भी मिट्टी और पत्थर हैं, उसे निकालकर बाहर कर देते हैं और तब नीचे से जल-स्रोत आते हैं। हौज का पानी थोड़े ही दिन में गंदा हो जायेगा, वह ऊपर से भरा हुआ जो है। और कुयें के तो अपने जलस्रोत है उसका पानी गन्दा नहीं होगा उसका तो प्राणों का संबंध बहुत गहरे तल से है जहां बहुत जल है, वह तो अंततः सागर से जुड़ा हुआ है। हौज किसी से नहीं जुड़ा हुआ है। वह तो ऊपर ऊपर ही है और इसलिये निष्प्राण है। हौज तो मात्र देह है। कुयें की अपनी आत्मा भी है। ऐसे ही दो तरह के ज्ञान भी होते है। एक तो हौज का ज्ञान होता है जो ऊपर से भर दिया जाता है और बहुत जल्दी सड़ जाता है। इसलिये ही तो दुनिया में तथाकथित पंडितों के मस्तिष्क से सजा हुआ और जराजीर्ण मस्तिष्क और कोई नहीं होता, वह सोच विचार करने में असमर्थ ही होता है। उसकी स्थिति अत्यंत पंगु होती है। उसमें विचार तो बहुत होते हैं, लेकिन विचारणा बिल्कुल भी नहीं होती है। सब भरा हुआ रहता है। वह उसी को दोहराता है. वह जड़यंत्र की भांति होता है। इसीलिये तो पंडितों की बातें बिल्कुल मृत और यांत्रिक होती हैं। उससे कुछ भी पूछिये सब पहले से तैयार है। प्रश्न बाद में है। समाधान पहले है। उत्तर उसे मालूम है। उत्तर ऊपर से भर दिये गये हैं। अब तो ऐसे यंत्र भी तैयार हो गये हैं, जिनसे आप प्रश्न पूछें और वे उत्तर दे दें। पंडितों की अब दुनिया में जरूरत नहीं रह जायेगी, क्योंकि अब तो उनका कार्य यंत्र ही कर देंगे। निश्चय ही उन यंत्रों को भी ज्ञान का भोजन वैसे ही कराना होगा, जैसा कि पंडितों को करना पड़ता है। उत्तर पहले सिखा दीजिये और फिर उतर ले लीजिये। वे यंत्र बस स्मृतिघर होंगे। विचार करना, उनके वश में नहीं है। तोते पंडितों के वश में भी वह कभी नहीं रहा है। एक अंतर जरूर होगा कि यंत्र पंडितों से ज्यादा कुशल होंगे और उनसे एक सुविधा और होगी कि वे किसी को लड़ायेंगे नहीं। झगड़ा नहीं करवायेंगे। उनमें हिन्दू, ईसाई और यहुदीका युद्ध खड़ा कराने की वृत्ति नहीं होगी। यह ऊपर से भरा हुआ जो ज्ञान है,

घातक है। यह मस्तिष्क को मुक्त नहीं करता है. मस्तिष्क को बांध देता है और खंडित कर देता है। उसकी उड़ने की क्षमता तोड़ देता है। उसके पंख नष्ट कर देता है। एक दूसरा ज्ञान है जो भीतर से आता है। कुयें के जल की तरह आता है। निश्चित ही दोनों की प्रक्रिया बिल्कुल अलग और विरोधी है, कुयें में मिट्टी को, पत्थर को बाहर निकालना पड़ता है और हौज में मिट्टी और पत्थर को जोड़ना पड़ता है। एक में पानी है और एक में पानी डालना पडता है। क्या आप ज्ञान को हौज की तरह इकट्ठा कर रहे हैं? अगर इकट्ठा कर रहे हैं तो सावधान हो जायें, क्योंकि आप अपने ही हाथ से अपने मस्तिष्क को नष्ट कर रहे हैं। वह मस्तिष्क, जो कि परमात्मा तक उड़ सकता है आप उसे अत्यंत पार्थिव भूमि पर बांध रहे हैं।

बाहर से ज्ञान न इकट्ठा करें, भीतर से ज्ञान को आने दें। भीतर से ज्ञान को आने देने के लिये यह जरूरी है कि ईंट, पत्थर जो इकट्ठा कर लिये हैं, वह अलग कर दिये जायें। जितना ज्ञान हमने इकट्ठा कर लिया है, उसे हम हटा दें और सरल हो जायें। यदि झूठे और सीखे हुये ज्ञान को हम हटा दें और सरल हो जायें तो एक बिल्कुल ही अभिनव ऊर्जा का अनुभव होगा। कोई बिल्कुल ही नई चीज पैदा होनी शुरू हो जायेगी। वह तो सदा मौजूद है, किन्तु व्यर्थ के ज्ञान का भार उसे प्रगट ही नहीं होने देता है। लेकिन, जगत में संपत्ति को, पद को, परवार को छोड़ना आसान है, विचार को छोड़ना कठिन है। निश्चित ही आप पूछेंगे, कैसे अलग कर दें। विचार तो छोड़ना बहुत कठिन है।

एक आदमी साधु हो जाता है। संपति छोड देता है, घर छोड़ देता है, मित्र प्रिय जन छोड़ देता है, पत्नि तथा बच्चे छोड़ देता है। लेनिक जिन विचारों को उसने गृहस्थ रहते पकड़ा था, उनको नहीं छोड़ता है। उनको तो वह पकड़े ही रहता है। अगर वह जैन था तो वह कहता है कि मैं जैन साधु हुं, अगर वह मुसलमान था तो कहता है कि मुसलमान साधु हूं. अगर वह ईसाई था तो कहता है कि मैं ईसाई साधु हूं. जिन विचारों को उसने पकड़ा था उन्हें पकड़े रहता है और सब छोड देता है। और गृहस्थी बाहर है। विचार की गृहस्थी भीतर है और इसलिये ही कठिन है छोड़ने में। जो उसको छोड़ देता है वह सत्य को जानने में समर्थ हो जाता है। पर द्वार छोड़ने से कोई भी सत्य की कभी नहीं जान सकता है। क्योंकि सत्य के मार्ग में घर की दीवार बाधा नहीं देती। मैं इस घर में बैठा हूं या दूसरे घर में बैठा हूं, ये दीवारें कोई बाधा नहीं हैं; सत्य को जानने में, मैं जिनके साथ बैठा हूं, यह भी कोई बाधा नहीं है।

मैं कहां हूं यह भी कोई बाधा नहीं है, सत्य को जानने में एकही चीज बाधक है : भीतर जो विचार की दीवार खड़ी हो जाती है, वही केवल बाधा है और निश्चित ही उसका विसर्जन एक अति कठिन कार्य है। और जब मैं कहता हूं कि विचारों को छोड़ दें तो प्रश्न उठता है कि उसे कैसे छोड़ें? विचार की पकड़ कैसे जायेगी? वह तो निरन्तर हमारे भीतर है। जो हमने सीख लिया है, उसे कैसे भूल सकते हैं?

जरूर जो सीखा गया है, उसे भूलने का रास्ता होता है और जो इकट्ठा किया गया है उसे बांट देने का रास्ता होता है और जो भर दिया गया है, उसे खोल देने का रास्ता होता है। असल में जो भी भीतर लाया गया है, उसे बाहर वापिस पहुंचाने का रास्ता वही है, जिस रास्ते से वह भीतर लाया गया है, रास्ता हमेशा वही होता है। मैं जिन सीढ़ियों से चढ़कर ऊपर आया हूं, उन्हीं सीढ़ियों से वापिस चला जाऊंगा और जिस रास्ते से आप सब आये हैं, उसी रास्ते से वापिस लौटना होगा। रास्ता हमेशा वही होता है। आने और जाने में रास्ते का फरक नहीं पड़ता, केवल दिशा का फरक पड़ता है, मुंह को बदल देने का फरक पड़ता है। जिन जिन रास्तों से हमने विचार को इकट्ठा किया है, उनके विपरीत मुंह कर लेने से विचारों को विसर्जित भी किया जा सकता है। किन किन रास्तों से हमने विचार को इकट्ठा किया है? विचार को इकट्ठा करने में सबसे महत्वपूर्ण और सबसे गहरा जो तल है वह ममत्व का है, वह इस भाव का कि वह मेरे हैं। लगता है कि विचार मेरे हैं। लेकिन कोई विचार आपका है? विवाद में आप कहेंगे कि मेरा विचार ठीक है। जरा विचार करिये आपका कोई विचार है? या कि सब विचार बाहर से आये हैं? व्यर्थ ही हम कहते हैं कि मेरा विचार है। जो लोग कहने लगते हैं कि मेरी पत्नि नहीं है, मेरा कोई बच्चा नहीं है, मेरा कोई मकान नहीं है, वे भी कहते हैं कि मेरा धर्म है, वे भी कहते हैं कि मेरा विचार है, मेरा दर्शन है। उनको भी विचार के तल पर जो ममत्व का भाव है, मेरे होने का भाव है, वह नहीं जाता है और जिनका उस तल पर ममत्व नहीं गया है, उनका किसी तल पर ममत्व का भाव नहीं जायेगा। वह चाहे कितना भी कहे कि मेरी पत्नि यह नहीं है लेकिन बहुत गहरे मन पर भाव रहेगा कि यह मेरी पत्नि है।

एक बड़े स्वामी अमरीका से वापिस लौटे थे। सारे यूरोप में, सारे अमरीका में उन्होंने सत्य दर्शन की चर्चा की थी। उनका बड़ा प्रभाव हुआ, लाखों करोड़ों लोगों ने उन्हें पूजा और माना। फिर वह भारत वापिस लौट आये। कुछ दिन तक हिमालय में थे, उनकी पत्नि उनसे मिलने गई। स्वामी ने मिलने से इंकार कर

दिया। उन्होंने कहा: मैं नहीं मिलता। उनके पास एक मित्र थे। वे बहुत हैरान हुये। उन्होंने कहा: मैंने कभी आपको किसी स्त्री से मिलने को इंकार करते नहीं देखा। यूरोप में, अमरीका में हजारों स्त्रियां आपसे मिलीं और आपने कभी किसी को इंकार नहीं किया। इस स्त्री को क्यों इन्कार करते हैं? क्या आप किसी तल पर अब भी इसे अपनी तो पत्नि नहीं मान रहे हैं? जिसे छोड़कर चले गये थे, उससे मिलने से क्यों इंकार कर रहे हैं? जरूर ही वह किसी तल पर मान रहे थे कि पत्नि उनकी है। अन्यथा और स्त्रियों से मिलने से इंकार उन्होंने कभी नहीं किया था : जब तक आपका विचार का ममत्व है, तब तक आप इस भ्रम में मत रहें कि आप कुछ भी छोड़ सकते हैं, क्योंकि असली पकड़ और सम्पत्ति तो केवल विचार की है बाकी सारी चीजें बाहर हैं उनकी कोई पकड नहीं है पकड़ तो सिर्फ विचार की है। वह जो विचार का घेरा है, वह जो विचार की संपत्ति है, जिससे आपको लगता है कि मैं कुछ जानता हूं, विचारणीय है कि क्या उसमें कुछ भी आपका है?

एक बहुत बड़ा साधु था। कुछ दिन पहले उसके आश्रम में एक युवा संन्यासी आया। दो–चार, दस दिन तक उस संन्यासी की बातें सुनीं। वह जो वृद्ध साधु था, उसकी बातें बड़ी थोड़ी सी थीं और युवा संन्यासी बिल्कुल थक गया। उन्हीं बांतों को बार बार सुनकर उसने सोचा कि इस आश्रम को छोड़ो। यहां तो सीखने को कुछ दिखाई नहीं पड़ता और तभी एक और संन्यासी का आगमन उस आश्रम में हुआ। रात्रि में उस अतिथि संन्यासी ने जो चर्चा की, वह बहुत अद्भुत थी, बहुत गंभीर थी, बहुत सूक्ष्म थी, बहुत गहरी थी। उस युवा संन्यासी ने उसकी बातें सुनीं। उस आगन्तुक संन्यासी की, अतिथि की बातों से वह मोहित हो उठा और उसको लगा कि गुरु हो तो ऐसा हो, जिसके पास ऐसा ज्ञान हो, इतना गंभीर और इतना गहरा। और एक यह वृद्ध गुरु है, जिसके आश्रम में मैं रुका हूं, उसे कुछ थोड़ी सी बातें भर आती हैं और कुछ नहीं। फिर उसे यह भी लगा कि यह वृद्ध संन्यासीं उस अतिथि संन्यासी की बातें सुनकर मन ही मन में कितना दुखी न होता होगा? निश्चय ही उसे अपमान का अनुभव हो रहा है। तभी तो वह आंखें बन्द किये बैठा है! यह तो कुछ भी नहीं जानता है। जीवन इसने व्यर्थ ही गवां दिया है। उस नये आये साधु ने अपनी बात पूरी की और चारों ओर उसने सबकी तरफ देखा कि उनपर क्या प्रभाव पडता है। उसने वृद्ध साधु की तरफ भी देखा। वह वृद्ध साधु बोला कि मैं दो घंटे से बहुत स्मृतिपूर्वक सुन रहा हूं, लेकिन मैं देखता हूं कि तुम तो कुछ बोलते ही नहीं। अतिथि संन्यासी

ने कहा कि आप पागल तो नहीं हैं? मैं दो घंटे से बोल रहा हूं और आप दो घंटे से सुन रहे हैं और फिर भी कहते हैं कि मैं बोलता नहीं? वृद्ध साधु ने कहा निश्चित ही मैंने बहुत बहुत सुना है लेकिन तुम कुछ भी नहीं बोले। जो भी कहा सब दूसरों का कहा है। कोई विचार तुम्हारी अपनी अनुभूति से नहीं है। इसलिये मैं कहता हूं कि तुम नहीं बोले। दूसरे तुम्हारे भीतर से बोले, लेकिन तुम नहीं बोले। आह! तुम स्वयं में कितने रिक्त और खाली हो! लेकिन दूसरों की संपति से तुमने अपना दारिद्रय जरूर ढांक लिया है!

विचार की मुक्ति के लिये और विचार की स्वतंत्रता के लिये और विवेक के जागरण के लिये पहली बात, पहला बोध यह है कि कोई भी विचार मेरा नहीं है। कोई भी विचार मेरे नहीं है। विचार मात्र पराये हैं। उधार हैं। बासी हैं। वह जो उनके प्रति मेरे होने का भाव है, मिथ्या है। वह भाव सत्य नहीं हैं। कोई विचार मेरा नहीं है। वह जो तादात्म्य है विचार से, उसे छोड़ दो। हम हर विचार से अपना तादात्मय कर लेते हैं। हम कहते हैं: जैन धर्म मेरा है, हिंदू धर्म मेरा है, राम मेरे, कृष्ण मेरे, क्राइस्ट मेरे। हम तादात्म्य कर लेते हैं। हम अपने में से उनको जोड़ लेते हैं। बड़ा आश्चर्य है। वस्तुतः कोई विचार आपका नहीं है। कोई धर्म आपका नहीं है। यदि यह बोध स्मरणपूर्वक स्वयं में जागृत हो जावे, तो एक मौलिक परिवर्तन हो जाता है। परिवर्तन ही नहीं, वस्तुतः क्रांति ही हो जाती है। अपने सारे विचारों को फैलाकर देख लें। वे कहीं से आये होंगे। जैसे वृक्षों पर पक्षी संध्या बसेरा करते हैं, ऐसे ही विचार मन में आते हैं और निवास करते हैं। आप केवल एक धर्मशाला की तरह हैं, जहां लोग केवल ठहरते हैं और चले जाते हैं। एक सराय का मुझे स्मरण आता है। एक छोटी सी सराय थी। वहां कुछ लोग आ रहे थे संध्या को ठहरने। कुछ लोग जिनका काम पूरा हो गया, वे संध्या को विदा हो रहे थे। मैं उस सराय के बाहर बैठा था और हंस रहा था। एक नया नया आदमी सराय के भीतर आ रहा था, उसने मुझसे पूछा: आप हंसते क्यों हैं? मैंने कहा: इस सराय को देखकर मुझे अपने मन का ख्याल आता है। इससे हंसी आ रही है। ऐसे ही कुछ विचार आते हैं और चले जाते हैं और मन केवल सराय है और कोई भी विचार उसका अपना नहीं है। मन केवल सराय है। वहां ठहरते हैं विचार और चले जाते हैं। जरा अपने मन को गौर से देखें तो पता चलेगा कि कल जो विचार थे, वे आज नहीं हैं, परसों जो विचार थे, वे आज नहीं हैं। साल भर पहले जो विचार थे, वे आज नहीं है। दस साल पहले जो विचार थे, वे आज नहीं हैं। बीस साल पहले

जो विचार थे, उनका कोई पता नहीं है। इन पिछले सालों में जिनसे आप गुजरे और जिये हैं लौटें और देखें कि कौन से विचार आपके रहे हैं? विचार आये हैं और गये हैं। और आप केवल सराय है, ठरने की जगह हैं। फिर भूल से समझते हैं कि वे मेरे हैं। जैसे ही समझ लेते हैं कि वे मेरे हैं, वैसे ही विचार को पकड़ मिल जाती है और दीवारें बननी शुरू हो जाती हैं। इससे विचार मुक्ति की दिशा में पहली स्मृति है। यह जानना कि मैं और विचार भिन्न हैं। मैं सराय हूं। वे यात्री हैं। उनसे ममत्व भ्रांति है। उनसे तादात्म्य भूल है। और जब यह दीखता है तो क्या होता है? विचार प्रवाह और चैतन्य की धारा पृथक पृथक हो जाती है। चेतना साक्षी बन जाती है। वह दृष्टा मात्र रह जाती है। आप निश्चित ही देखनेवाले से ज्यादा नहीं है। आप केवल वहां एक दर्शक हैं, लेकिन हम तो नाटक में भी तादात्म्य कर लेते हैं। हम तो सिने फिल्म में भी तादात्म्य कर लेते हैं। वहां फिल्म चलती हो और कोई दुखद चित्र आता है तो हमारे आंसू बहने लगते हैं। और यह छोटे मोटे आदमी की बात नहीं है। एक बहुत बड़े विचारक हुये हैं। वे विद्या के सागर ही कहे जाते थे। एक छोटा सा नाटक हो रहा था। उस नाटक को वे भी देखने गये, उस नाटक में एक खलनायक है, जो कि एक अबला के साथ अनाचार करता है, अत्याचार करता है। उसका अत्याचार जब चरम हो उठा तो उनसे बर्दास्त करना संभव नहीं हुआ। वे इतने गुस्से में आ गये कि उठकर उन्होंने अपना जूता निकाला और उसको मार दिया—नाटक में! किन्तु वे भूल ही गये कि वह नाटक है! और वे विद्या के सागर समझे जाते थे! किन्तु वह अभिनेता उनसे कहीं ज्यादा समझादार था। उसने उस जूते को सिर माथे ले लिया और कहा कि यह उसके जीवन का सबसे बड़ा पुरस्कार है। निश्चय ही उसका अभिनय अद्भुत रहा होगा नहीं तो उसे इतना सत्य मान लेना कैसे संभव था? किन्तु मित्र, जूते मारनेवाले पर हंसे नहीं, हम सब यही रोज कर रहे हैं। हंसना ही है तो स्वयं पर हंसे। आप भी कोई कम विद्या के सागर थोडे ही हैं?

जीवन में विचार के तल पर भी हम दर्शक से ज्यादा नहीं है लेकिन हम विचार से तादात्म्य कर लेते हैं। वह जो विचार मन के पर्दे पर आते और जाते हैं, उनके हम सिर्फ साक्षी हैं। ख्याल करें, रात आपने स्वप्न देखे, सुबह आप उठे, आप कहते हैं कि स्वप्न आये और गये। फिर आपने दिन देखा। आप बच्चे थे, आपने बचपन देखा। फिर युवा हुये, फिर बुढे हुये। जरा ख्याल करें कि आपके भीतर कौनसा तत्व सदा साथ है। उसे खोजें, जो निरंतर मौजूद है, सतत मौजूद है। सिवाय देखनेवाले के और कोई मौजूद नहीं है। बाकी आता है और

चला जाता है। बचपन आता है और चला जाता है। जवानी आती है, चली जाती है। बुढ़ापा आता है और चला जाता है जन्म। होता है, मृत्यु होती है। सुख आते हैं, दुख आते हैं। धूप आती है, छाया आती है। सम्मान आता है, अपमान आता है। लेकिन ये सारी चीज़ें आती हैं और जाती हैं। पूरे जीवन में कौनसा तत्व है, जो न आता है और न जाता है। वह सिर्फ देखनवाले के सिवाय और कोई दूसरा तत्व नहीं है। वह जो इन सबको देखता है, वह जो यह देखता है कि धूप आई, वह देखता है कि धूप गई। वह देखता है कि युवा हुआ, वह देखता है कि बूढा हुआ। वह देखता है कि एक विचार आया। वह देखता है कि वह विचार गया। एक देखनेवाले सूत्र के सिवाय आपके भीतर बाकी सब आता है और जाता है. बाकी कोई तत्व टिकता नहीं है। हां, एक चीज टीकी रहती है। वह है देखने की शक्ति और देखने की क्षमता और दृष्टा होने का, साक्षी होने का केन्द्र। वह है हमारी चेतना।

विचार के तल पर साक्षी हो जायें, विचार को देखें, पकड़ें नहीं। विचार से बंधे नहीं। उसे देखें. मात्र साक्षी होकर देखें। लेकिन हम साक्षी नहीं हो पाते, क्योंकि हमने मान रखा है कि कुछ विचार बुरे हैं और कुछ विचार अच्छे हैं। इसलिये हम अच्छे को पकड़ना चाहते हैं और बुरे को धक्का देना चाहते हैं। इसलिये हम साक्षी नहीं हो पाते हैं, अच्छे और बुरे का जो भेद करता है वह साक्षी नहीं हो सकता है। जो अच्छे बुरे का भेद करता है विचार में, कि यह विचार अच्छा है, वह बुरा तो स्वभावतः जो अच्छा है वह उसे पकड़ना चाहता है और जो बुरा है उसे हटाना चाहता है। विचार केवल विचार हैं। विचार न अच्छा होता है और न बुरा होता है, जैसे ही हमने अच्छा बुरा कहा वैसे ही हम एक को पकडने और दूसरे को छोड़ने में लग जायेंगे। इस पकड़ छोड़ में ही तो साक्षी खो जाता है। और जो एक को पकडेगा और दूसरे को छोड़ेगा, वह समझ ले कि वह विचारों से कभी मुक्त ही नहीं हो सकता है। क्योंकि अच्छे और बुरे के मूल्य तो मनुष्य निर्मित हैं, विचार तो बस विचार हैं या तो विचार अपनी समग्रता में जाते हैं, या जाते ही नहीं हैं। विचार की शृंखला अखंड और एक है। उसके किसी खंड को बचाना और किसी से मुक्त होना असंभव है। वस्तुतः उसके खंड किये ही नहीं जा सकते हैं। अच्छे बुरे दोनों विचार संयुक्त हैं। वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसलिये एक पहलू को जो बचाता है, वह दूसरे को भी अनजाने ही बचा लेता है। और जो एक को फेंकना चाहता है, उसे दूसरे को फेंकने की तैयारी भी करनी होती है। इसलिये जिसे हम अच्छा

आदमी कहते हैं, तो यह न सोचें कि उसमें बुरे विचार नहीं हैं। उसके भीतर भी बुरे विचार हैं। ऐसा अच्छा आदमी आप खोज ही नहीं सकते हैं कि जिसके भीतर बुरे विचार न हों, और ऐसा बुरा आदमी भी नहीं खोज सकते हैं कि जिसके भीतर अच्छे विचार न हों। हां, ऐसा आदमी जरूर होता है, जिसके भीतर विचार ही न हों। ऐसा दो स्थितियों में होता है कि या तो वह व्यक्ति जड़ हो, मूर्च्छित हो, या फिर पूर्ण जागृत और चैतन्य हो। मूर्च्छा में भी विचार होते हैं, केवल प्रगट नहीं होते हैं। विचार से वास्तविक मुक्ति तो पूर्ण बोध में ही होती है। ऐसे व्यक्ति को ही मैं साधु कहता हूं। ऐसे व्यक्ति को ही मैं धार्मिक कहता हूं। वह न अच्छा है, न बुरा है। वह तो बस है। और उसका यह होना ही शुभ है, सत् है, परम मंगल है। वह तो मनुष्य भी न रहा, वह तो परमात्मा से ही एक हो जाता है। ऐसा ही व्यक्ति जानता है और ऐसा ही व्यक्ति वस्तुतः जीता है। उसका जानना और जीना एक ही है। लेकिन जो अच्छे को पकड़ता है, वह स्मरण रखे कि बुरा भी उसके भीतर रहेगा। अच्छा ऊपर होगा और बुरा भीतर। क्या आपको यह ज्ञात नहीं है कि जो तथाकथित सज्जन हैं, वे स्वप्न में वही काम करते हैं, जो दुर्जन दिन में, जागने में करता है। सज्जन स्वप्न में वही सब करता जिससे वह स्वयं को जागने में करने से रोकता है। बुरे आदमी बुरे स्वप्न नहीं देखते, अच्छे आदमी बुरे स्वप्न देखते हैं। अक्सर बुरे आदमी अच्छे सपने देखते हैं। बुरे आदमी साधु होने के सपने देखते हैं, और अच्छे आदमी असाधु होने के सपने देखते हैं। स्वप्न जीवन के परिपूरक हैं। इसलिये ही तो तथाकथित साधुओं को अप्सरायें परेशान करती हैं। ये अप्सरायें उनके स्वप्नों के अतिरिक्त और कहीं भी नहीं हैं। चित्त जो-जो दमन करता है, वही-वही स्वप्न में रूप धर लेता है। स्वप्न जागरण का दूसरा पहलू है। चेतन से जिसे हम हटाते हैं वह अचेतन में बस जाता है। इस भांति उससे छुटकारा नहीं है। उल्टे उसकी पैठ तो ऐसे और भी गहरी और सूक्ष्म हो जाती है। सज्जनों के मन खोले जा सकें तो ज्ञात हो कि दुर्जनों के बराबर ही पाप वे भी कर लेते हैं। यह भेद जरूर है कि वे उन्हें मन ही मन में करते हैं। लेकिन चेतना के लिये इससे कोई भेद नहीं पड़ता है। समाज के लिये तो अंतर पड़ता है, किन्तु स्वयं के लिये नहीं। दुर्जन भी भलाइयों की कल्पना करते हैं। वे भी उनका स्वप्न देखते हैं। असल में दोनों बातें सदा साथ रही हैं। उनमें से एक से ही छुटकारा असंभव है। और जो पहलू नीचे दबा रहता है, वह कभी भी ऊपर आ सकता है। इसलिये ही तो तथाकथित साधु असाधु और

असाधु-साधु होते देखे जाते हैं । यह केवल करवट बदलना है । इससे कोई वास्तविक क्रांति नहीं होती है । अच्छे आदमी में बुरा आदमी छिपा है । बुरे आदमी में अच्छा । शुभ की आड़ में अशुभ है और अशुभ के नीचे ही शुभ । वैसे ही जैसे सिक्के का चेहरा हम ऊपर कर लें तो पीठ नीचे चली जाती है, और पीठ ऊपर कर लेते हैं, तो सिक्के का चेहरा नीचे चला जाता है । इस सत्य को ठीक से समझ लें कि अच्छा और बुरा एक ही तथ्य के दो पहलू हैं ।

जिसको साक्षी होना है और सत्य को जानना है, उसे समस्त विचार को मात्र विचार समझना होगा । न कोई अच्छा है, न कोई बुरा है, क्योंकि जैसे ही हमने यह तय किया कि कुछ अच्छा है, कुछ बुरा है, वैसे ही हम एक को पकड़ने में और दूसरे को हटाने में लग जायेंगे और साक्षी नहीं रह जायेंगे । साक्षी होने के लिये जरूरत है कि हम निष्पक्ष हों, हमारी कोई धारणा न हो, हमारी कोई कल्पना न हो, हम कुछ आरोपित न करना चाहते हों । विचार जैसे हों, हम उन्हें वैसे ही देखने को राजी हों । न उनकी प्रशंसा और न निन्दा । उनके प्रति कोई दृष्टि नहीं । बस, मात्र दर्शन—तटस्थ दर्शन । कोई निर्णय नहीं । कोई मूल्यांकन नहीं, बस दर्शन । निपट दर्शन । विचारों प्रति सीधे और सरल साक्षी होना एक अद्‌भुत घटना है । उसमें बड़ा आश्चर्य और रहस्य निहित है, क्योंकि विचारों के सहज और सरल निरीक्षण में विचार तिरोहित होने लगते हैं और अंततः एक अवर्णनीय मौन, एक अखंड शांति, और एक अज्ञात शून्य ही शेष रह जाता है । इस मौन में साक्षी ही शेष बचता है । विचारों का तटस्थ दर्शन उनके प्रति सारे संबंध तोड़ देता है । और जहां विचारों के प्रति न राग है, न विराग है, वहां वे सहज ही आना बंद कर देते हैं । राग विराग के जाते ही उनके आगमन और ठहरने के मूल कारण का ही विच्छेद हो जाता है । लेकिन जब तक विचारों के प्रति शुभ अशुभ के निर्णय की वृत्ति होती है, तब तक यह नहीं हो पाता है । वह वृत्ति चित्त के मौन और शून्य होने में बाधा बन जाती है । विचारों को किसी भी पक्ष और भाव के बिन्दु से देखना उनसे बंधने और उलझने और ग्रसित होने का आधार है । इस आधार को ही देखे बिना जो उनसे लड़ता है, वह व्यर्थ ही लड़ता है । वह जानता ही नहीं है कि स्वयं उसकी लडाई ही उन्हें जाने दे रही है । मित्र भी हमको घेरे रहते हैं और शत्रु भी हमको घेरे रहते हैं । एक बार चाहे मित्र न भी घेरें, लेकिन शत्रु जरूर घेरे रहते हैं । वह हमारे चित्त में घूमते ही रहते हैं । मित्रता और शत्रुता—दोनों ही चेतना को विचारों से बांधने के कारण बनते हैं । इसलिये मैंने

कहा कि उन्हें न राग से देखें, न विराग से। वीतराग दर्शन के अतिरिक्त उनसे मुक्ति का कोई मार्ग नहीं है। वस्तुतः उस दशा में, स्वयं में उनकी जड़ें ही नष्ट हो जाती हैं। यदि कोई व्यक्ति कामिनी को या कंचन को बुरा मानकर उनसे भागने लगे, तो वह पायेगा कि २४ घंटे वे ही विचार उसे घेरे हुये हैं। सोते जागते वह उनमें ही डूबा रहेगा। और जितना वह स्वयं को उनमें डूबा हुआ पायेगा उतना ही भयभीत होगा और जितना भयभीत होगा उतना ही उनसे और तीव्रता से भागेगा और जितना भागेगा उतना ही और डूबेगा। ऐसे उसके जीवन में एक दुष्ट चक्र पैदा होगा, जो कि बिल्कुल आत्मचालित यंत्र सी गति करेगा। ऐसे मोक्ष तो नहीं, नर्क जरुर ही निकट आ जाता है। जिस विचार से आप लड़ते हैं, वही विचार आपका आमंत्रण स्वीकार कर लेता है। जिससे आप लड़ते हैं, वही आने लगता है। मन का नियम है कि जिससे लडेंगे, वही आमंत्रित होगा। जिसको आपने धक्का दिया, वह आपके धक्के के कारण ही आना शुरू हो जायेगा। इसलिये विचार से न तो डरना है और न उसे डराना है। न उसे पकड़ना है न उसे धक्का देना है। उसे तो मात्र देखना है। निश्चय ही इसमें बडी सजगता की जरूरत है, क्योंकि बुरा भी विचार आयेगा और आदतबश मन होगा कि उसे धक्का दे दें और अच्छा भी विचार आयेगा और मन होगा कि पकड़ लें। इस मन की यह जो पकडने और धक्का देने की प्रवृत्ति है, वह सहज आदत है। बोधपूर्वक, स्मृतिपूर्वक अगर कोई उस पर ध्यान करेगा, तो वह वृत्ति धीरे धीरे शिथिल हो जायेगी, और वह विचार को देखने में समर्थ हो जायेगा। और जो व्यक्ति विचार को देखने में समर्थ हो जाता है वह वस्तुतः विचार से मुक्त होने में ही समर्थ हो जाता है।

हम विचार को कभी देखते ही नहीं। हम कभी रुककर, ठहरकर देखते नहीं कि वहाँ क्या चल रहा है। आपने शायद ही कभी देखा हो। आधा घंटा बैठकर आपने कभी देखा हो कि क्या आपके भीतर चल रहा है। वह चल रहा है और आप भी चले जा रहे हैं और आप भी काम किये जा रहे हैं। वह चल रहा है, आप खाना खा रहे हैं। वह चल रहा है आप लिख रहे हैं, बोल रहे हैं, वह चल रहा है और आप सुन रहे हैं, वह भीतर आकर चला जाता है। वह अलग ही चलता जा रहा है। धीरे धीरे आपने उसकी फिक्र ही छोड़ दी है। आपको ध्यान ही नहीं है कि भीतर क्या चल रहा है और आप अपना दैनंदिन कार्य बिल्कुल यन्त्र की भांति ही किये जा रहे हैं। इसलिये आप करीब करीब सोये हुये आदमी हैं। भीतर मन कुछ और कर रहा

है, आप कुछ और किये जा रहे हैं। आप अनुपस्थित आदमी हैं, आप अपने प्रति उपस्थित नहीं हैं, आप अपने प्रति जागे हुये नहीं हैं।

महावीर से किसी ने एक दिन पूछा कि साधु कौन है ? महावीर ने कहा: असुत्ता मुनि। जो सोया हुआ नहीं है, वह साधु है। पूछा : असाधु कौन है? उन्होंने कहा : सुता अमुनि। जो सोया हुआ है वह असाधु है। अद्‌भुत, बहुत अद्‌भुत सूत्र है। वस्तुतः जो सोया है, वह जीवित ही नहीं है, वह नाममात्र को ही जीवित है। वह तो मृत ही है। और हम सारे लोग सोये हुये हैं। हम भीतर क्या चल रहा है, उसके प्रति बिल्कुल सोये हुये हैं और वह भीतर ही हमारा असली होना है। हम उसके प्रति सोये हुये हैं। बाहर क्या चल रहा है, बाहर क्या हो रहा है, उसके प्रति जागृत हैं। जो बाहर चल रहा है, उसके प्रति जागे हैं, जो भीतर चल रहा है उसके प्रति सोये हैं। यही जीवन का दुख और यही जीवन का अज्ञान है, और यही जीवन की परतंत्रता और यही जीवन का बंधन है। उसके प्रति जागना होगा, जो भीतर चल रहा है। विचार की समस्त धारा के प्रति जो जागेगा, समझेगा, साक्षी होगा, वह एक बड़े अद्‌भुत अनुभव से गुजरता है, उसे अनुभव में आना शुरू होता है कि जिन जिन विचारों का वह विराट शून्य साक्षी हो जाता है, वे वे विचार आने बन्द हो जाते हैं। जिस जिस विचार को वह देखने में समर्थ हो जाता है वह वह विचार आने में असमर्थ हो जाते हैं, और एक घड़ी आती है कि विचार नहीं रह जाते हैं और तब जो शेष रह जाता है उसका नाम ही विवेक है। विचार दूसरों के हैं। विवेक स्वयं का है। विचार पराये हैं। विवेक आत्मा है। यह विवेक ही वह प्रज्ञा है, जो प्रकाश में और परमात्मा में जगाती है। विचारोंके जाने और विवेक के आने की घड़ी से बड़ी सौभाग्य की और कोई घड़ी नहीं है। उस घड़ी में ही विचार नहीं होते हैं और आप होते हैं। बस आप ही होते हैं। इस स्वयं की निर्धूम सत्ता में ही जो ज्योतिशिखा जग उठती है, वही मुक्त विवेक है, वही स्वतंत्र हुआ विवेक है। यही स्वतंत्र विवेक सत्य को जानने में समर्थ होता है। परतंत्र विवेक सत्य को जानने में असमर्थ होता है। स्वतंत्रता पहली भूमिका है। यह स्वतंत्रता साधनी ही होगी। इसे साधे बिना कभी कोई सत्य के संबंध में गति नहीं होगी। कितने ही शास्त्र पढ़ें, कितने ही शब्द समझें, कितने ही सिद्धांत याद कर लें, बस शब्द ही याद हो जायेंगे और कुछ भी नहीं होगा, और शब्द मस्तिष्क को व्यर्थ ही भर देंगे। और बहुत शब्द किसी ज्ञान का लक्षण नहीं हैं। शब्द तो पागल में भी बहुत होते हैं, आपसे ज्यादा होते हैं लेकिन शब्द

कोई ज्ञान का लक्षण नहीं है। और यह भी आप निश्चित समझें कि बहुत शब्द बढ जायें, तो आप भी पागल हो सकतें हैं। पागल में और सामान्य में, पागल में और हममें कोई बहुत भेद नहीं है। हममें शब्द थोड़े कम हैं और उसमें थोड़े और ज्यादा हो गये हैं। हर आदमी पागलपन के किनारे पर खड़ा रहता है। जरा धक्का लगा कि पागल हो सकता है। शब्द अगर और जोर से बोलने लगे तो वह पागल हो जायेगा। मनोवैज्ञानिक यह कहते हैं कि हर तीन आदमियों में एक आदमी तो करीब पागल होने की हालत में ही है। हर तीन आदमी में.. यहां जितने लोग हैं, उनमें से तीन में से एक तो पागल होने की हालत में है ही। और आप यह मत सोचना कि आपका पड़ोसी इस हालत में है, क्योंकि यह इस बात का लक्षण है कि आप गड़बड़ हैं। अगर आपको यह ख्याल आ जाये कि मेरा पडोसी गड़बड़ हालत में है, तो आप समझना कि आप गड़बड़ हालत में हैं। क्योंकि पागल यह कभी नहीं समझ पाता कि वह स्वयं पागल है। वह तो हमेशा समझता है कि दूसरा ही पागल है। यानी पागल का यह अनिवार्य लक्षण है कि वह हमेशा यह समझता है कि दूसरे लोग पागल हैं! पागल को आप समझा नहीं सकते कि वह पागल है, क्योंकि अगर इतना ही वह समझ जाय तो सबूत हो गया कि वह पागल नहीं है। हम करीब करीब उस हालत में पहुंचते जा रहे हैं। प्रतिदिन लाखों व्यक्ति स्वयं को विक्षिप्तता के आक्रमण में घिरा पाते हैं। जल्दी ही वह समय आ जायेगा कि सभ्य संसार में घरों के समक्ष लगी सबसे ज्यादा तख्तियां मनोचिकित्सकों की होंगी। आज भी जो देश बहुत प्रगतिशील हैं, वहां वैसी स्थिति आनी शुरू हो ही गई है। शायद अकेले अमरीका में ही १५ से ३० लाख तक व्यक्ति रोज अपने मानसिक रोगों के लिये विशेषज्ञों से सलाह लेते हैं। उनकी बीमारी क्या है? विचारों की बीमारी है। विचार बढ़ते जाते है और उनका होश क्षीण होता जाता है। एक सीमा पर संतुलन खो जाता है। विचार अबाध और असंगत और अनियंत्रित गति से घूमने लगते हैं। स्वयं में तो शांति कभी भी नहीं थी, लेकिन अब उस अशांति की तरंगे बाहर भी आनी लगती हैं। स्वयं में तो जागृति कभी भी नहीं थी, लेकिन अब भीतर की मूर्च्छा दैनन्दिन कार्यों को भी प्रभावित करने लगती है। यह कोई नई स्थिति नहीं है। बस मात्रा भेद है। विचारों की मात्रा भर बढ़ गई है। यही मर्च्छा विक्षिप्तता बन जाती है। आप भी देखें— जागें और देखें कि क्या आपमें भी विचार की ऐसी ही विक्षिप्त गति नहीं है——ऐसी ही मात्रा और तीव्रता नहीं है? दस मिनिट बैठ जायें और जो जो विचार आयें, उन्हें लिखें, ईमान से। उनमें से एक भी

न छोड़ें। जो भी आये, आधा आये तो आधा लिखें, पूरा आये तो पूरा लिखें। दस मिनिट एक कागज़ पर लिखें और फिर किसी को दिखायें। वह कहेगा कि यह किसी पागल ने लिखा है। और यदि आपको यह खुद ही समझ में आ जाये कि यह किसी पागल ने लिखा है तो जानना कि पागलपन के करीब तो आप हैं। लेकिन अभी कुछ किया जा सकता है! जो आपके भीतर चल रहा है, वह उघाड़कर देखा जा सके, तो आप खुद ही घबरा जायेंगे कि मैं कैसा पागल हूं, क्योंकि यह क्या चल रहा है, यह क्या मेरे भीतर हो रहा है। लेकिन हम कभी रुककर देखते नहीं कि वहां क्या भीतर हो रहा है और हम समझते हैं कि हम बहुत विचारवान हैं। मित्र, मात्र विचारों से भरा होना विचारवान होना नहीं है। विचार को, विवेक को, ज्ञान को तो केवल वही उपलब्ध होता है, जो कि विचारों से मुक्त हो जाता है। विचारों की भीड़ के कारण कोई विचारवान नहीं होता है। सभी पागल ऐसा समझते हैं। और इसीलिये आपको यह पता हो जाना चाहिये कि जो तथाकथित विचारक अतिविचार में पहुंच जाते हैं वे पागल हो जाते हैं। क्या आपको ज्ञात है कि संसार में जो बड़े बड़े विचारक, कवि, लेखक और चित्रकार हुये हैं उनमें से बहुतों ने अंततः पागलखाने में शरण ली है। मुझे तो ऐसा लगने लगा है कि अब जो और दूसरे विचारक पागल नहीं हैं, वह जरूर कुछ थोड़े कम विचारक होंगे। एक वक्त आ जायेगा कि जो विचारक पागलखाना होकर न आया हो, हम समझेंगे कि कोई छोटी कोटि का विचारक है। ठीक भी है। विचार की अंतिम परणति पागलपन में है, विक्षिप्तता है। इसीलिये महावीर को, बुद्ध को, क्राइस्ट को, लाओत्से को विचारक नहीं कहता हूं। वे विचारक नहीं हैं, ज्ञानी और विचारक में जमीन आसमान का अंतर है। वे जानते हैं, विचार नहीं करते हैं। और जो नहीं जानता है, वही केवल विचार करता है। मैं यहां बैठा हूं, सभा खत्म होगी, हम सब उठेंगे और दरवाजे से निकल जायेंगे। कोई विचार नहीं करेगा कि दरवाजा कहां है, क्योंकि दरवाजा हमें दिखाई पड़ रहा है। लेकिन एक अंधा आदमी यहां बैठा हो, जैसे ही सभा खत्म होगी, वह सोचेगा कहां से जाऊं, कहां दरावाजा है, कहां द्वार है, वह विचार करेगा। जो देख सकता है वह विचार नहीं करता। जो नहीं देख सकता है, वह विचार करता है। विचार अज्ञान का लक्षण है। वह ज्ञान का लक्षण नहीं है। तो जितना ही आप विचार करते हैं, समझें कि उतना ही ज्यादा गहन आपका अज्ञान है। विचारों से उस अज्ञान को ही भरने की तो कोशिश चलती है। वह प्रयास एकदम थोथा और व्यर्थ है। वह तो वैसा ही है, जैसे कि कोई अंधा आदमी

प्रकाश के संबंध में विचार इकट्ठाकर आंखों की कमी पूरी करने के ख्याल में हो। अंधापन आंखों से मिटता है और अज्ञान भी। विवेक की आंखें न हों, तो विचारों की भीड़ बस विक्षिप्त हो कर सकती है। और विक्षिप्त अंधे से साधारण अंधा ही बेहतर होता है।

ज्ञान उत्पन्न हो तो विचार क्षीण हो जायेगा, शून्य हो जायेगा। मैंने कहा कि विचार को देखें और उसको क्षीण होने दें, शून्य होने दें। सजग होने से विचार शून्य होता है, साक्षी होने से विचार शून्य होता है और जब विचार शून्य हो जाता है, तो विवेक मुक्त हो जाता है। फिर वह विवेक शास्त्र से नहीं है, सिद्धांत से नहीं है। सत्य को जानने में उसकी गति हो जाती है। स्वतंत्र विवेक छोड़ देता है किनारा। वह अनन्त सागर में प्रवेश करता है।

एक छोटी सी कहानी कहकर अपनी चर्चा को पूरी करूंगा। एक रात कुछ मित्र मौज में थे और उन्होंने कहीं जाकर खूब शराब पी। फिर वे सोचे कि चांद पूरा है, रात बहुत सुन्दर और रम्य। चलो हम चलें और एक झील में नौका यात्रा करें। वे गये और एक नाव में बैठे और यात्रा शुरू की। उन्होंने पतवारें उठाईं और पतवारें चलाईं। वे रात के आखिरी पहर तक नाव चलाते रहे। फिर सुबह की ठंडी हवायें आने लगीं और चांद डूबने को होने लगा। ठंडी हवाओं ने उनके नशे को उखाड़ दिया। कुछ लोग ताजे हुये और उन्होंने कहा कि हम बहुत दूर निकल आये। अब वापिस लौटें, क्योंकि घर पहुंचते पहुंचते दोपहर हो जायेगी, इतने दूर निकल आये हैं अपने किनारे से। ऐसा सोच वे तट पर उतरे यह देखने को कि कहां हैं, और तट पर जो थे, उनसे पूछने को कि कहां हैं। लेकिन तट पर उतरते ही वे हैरान हो गये। वे कहीं भी नहीं गये थे। नाव वहीं खड़ी थी, क्योंकि वे जंजीर खोलना भूल गये थे। उस नाव की जंजीर वहीं बंधी थी। उन्होंने नाव की पतवार बहुत चलाई, लेकिन वे कहीं पहुंच नहीं सके। वे तो ठगे से रह गये, क्योंकि वे व्यर्थ ही रात भर परेशान हुये थे और बड़ा सोचते थे कि बड़ी यात्रा हो गई है, किन्तु वहीं के वहीं खड़े थे।

मैं कहता हूं कि जीवन में भी ऐसा ही होता है।

जिसका विचार और विवेक मुक्त होना चाहता है, उसे विश्वास के किनारे से जंजीर खोलनी है और जिसकी विश्वास से जंजीर बंधी है वह स्मरण रखे कि सत्य के जगत् में उसकी कोई यात्रा नहीं हो सकती। वह कहीं नहीं पहुंचा देगा। अंत में वह पायेगा कि जहां से उसने प्रारंभ किया था, वह वहीं खड़ा है। यात्रा

व्यर्थ हुई, पतवार चलाना व्यर्थ हुआ। समाज ने, परम्परा ने उसे जो विचार दिये थे, उन्हीं विश्वासों पर वह खड़ा है मरते वक्त। ऐसे आदमी का जीवन दुर्भाग्य है। उसकी यात्रा व्यर्थ हो गई। वह नाव और उसकी जंजीर को किनारे से खोलना भूल गया। किनारे से खोल लें अपनी जंजीर को। समाज ने जो दिया है, किसी दूसरे ने जो दिया है, उससे अपनी जंजीर को खोल लें और विवेक को मुक्त होने दें। मुक्त विवेक ही परमात्मा तक ले जाने में पथ बनता है। और बंधन, विचार और विश्वास परमात्मा को रोकने वाली जंजीरें हो जाती हैं। हम सब जंजीरों में बंधे हैं। इन जंजीरों में बंधे होने के कारण परमात्मा का अनुभव नहीं हो पाता है। साहस करें और जंजीरों को छोड़ दें और फिर देखें कि आपकी नाव कहां जाती है।

मैं अंत में यही प्रार्थना करता हूं : अपनी नाव को खोल लो, अपनी नाव के पालों को तो उड़ाओ। परमात्मा की हवायें उसे हमेशा अनंत में ले जाने को तैयार हैं। मित्रो, अपनी नाव को तो खोलो, अपनी पालों को तो उड़ाओ। परमात्मा की हवायें आपकी सदा से प्रतीक्षा कर रहीं हैं। और सत्य का अज्ञात सागर आपको बुला रहा है! क्या उसकी पुकार आपको सुनायी नहीं पड़ती है? धन्य हैं वे लोग, जो उसकी पुकार सुन लेते हैं और जो अपनी नाव खोल लेते हैं, और अपनी पाल खोल लेते हैं। और अभागे हैं वे लोग जो अपनी नाव को बांधे रहते हैं और श्रम करते हैं और अंत में असफल हो जाते हैं।

प्रभु आपको सामर्थ्य दे और साहस दे कि आप अनंत की पुकार पर यात्रा पर निकल सकें और आपकी नाव खुल सके किनारे से विश्वास के और ज्ञान के असीम सागर में उसका प्रवेश हो सके। स्मरण रहे कि जो साहस करते हैं, परमात्मा उनके साथ है और जो कमजोर हैं, रुके रह जाते हैं, परमात्मा उनके लिये क्या कर सकता है?

जीवन की कला :

(धर्म और शिक्षा पर इलोरा गुरुकुल में प्रवचन)

संकलन : श्री पन्नालाल गंगवाल, एम. ए.

मैं अत्यन्त आनन्दित हूं। छोटे छोटे बच्चों के बीच बोलना अत्यंत आनन्दपूर्ण भी होता है। एक अर्थ में अत्यन्त सृजनात्मक होता है। बूढ़ों के बीच मुझे बोलना इतना सुखद प्रतीत नहीं होता। क्योंकि उनमें साहस की कमी होती है, जिसके कारण उनके जीवन में क्रांति होना करीब करीब असंभव है। छोटे बच्चों में तो साहस अभी जन्म लेने को होता है। इसलिए उनके साहस को पुकारा जा सकता है और उन से आशा भी बांधी जा सकती है। एक बिल्कुल ही नई मनुष्यता की जरूरत है। शायद उस दिशा में तुम्हें प्रेरित कर सकूं, इसलिए मैं खुश हूं।

मैं थोड़ीसी बातें बच्चों से कहना चाहूंगा, कुछ अध्यापकों से और कुछ अभिभावकों से जो यहां मौजूद हैं, क्योंकि शिक्षा इन तीनों पर ही निर्भर होती है।

पहली बात तो मैं यह कहूं कि विद्यालय सारी दुनियां में बनाये जा रहे हैं, विश्वविद्यालय बनाये जा रहे हैं। सारी दुनिया का ध्यान बच्चों की शिक्षा पर दिया जा रहा है और ज्यादा से ज्यादा लोग शिक्षित भी होते जा रहे हैं, लेकिन परिणाम बहुत शुभ नहीं है। अभी हमारे मुल्क में शिक्षा कुछ कम है, कुछ दिनों में बढ़ जायेगी, लेकिन शिक्षा के साथ-साथ जगत् में न शांति आ रही है, न तो आनन्द आ रहा है। हम मानते हैं कि शिक्षा देकर बहुत कुछ हो जायेगा'

लेकिन ऐसा होता नहीं। जरूर शिक्षा के आधारों में भूलें होंगी, निश्चित ही कुछ आधारभत गड़बड़ होगी। शिक्षा का उपक्रम असफल ही है। एक विवेकपूर्ण संस्कृति पैदा करने में वह बिल्कुल विफल है। हम देखते हैं कि जो मनुष्य शिक्षित हैं, वे मनुष्यता की दृष्टि से उन मनुष्यों से भी नीचे हो गये हैं, जो कि अशिक्षित हैं। पहाड़ों में जो आदिवासी हैं, वे हमसे ज्यादा प्रेमपूर्ण हैं। हम जो बहुत ज्यादा कठोर, असभ्य वा पाषाण-हृदय होते जा रहे हैं, वह सब शिक्षा से ही हो रहा है। वही शिक्षा तुम्हें भी मिल रही है, वही शिक्षा सारी दुनिया में सारे बच्चों को मिल रही है। इससे डर मालूम हो रहा है। तुम्हारा भविष्य कुछ बहुत प्रकाशपूर्ण नहीं है। अगर इस शिक्षा पर तुम निर्भर रहे तो तुम्हारे संबंध में बहुत आशा नहीं बांधी जा सकती। क्योंकि आज तक इस शिक्षा से जो कुछ पैदा हुआ है वह किसी भी भांति सुखद नहीं है।

जैसा कि अभी यहां कहा गया कि विद्याक्रम में धार्मिक शिक्षा जोड़ी जाये, लेकिन वह भी हो तो भी कुछ होनेवाला नहीं है। क्योंकि दुनिया में धार्मिक शिक्षा बहुत दिनों से दी जा रही है, उसके परिणाम अच्छे नहीं हुए हैं। धर्म की शिक्षा के नाम पर क्या सिखाया जाता है ? अगर जन धर्म से संबंधित विद्यालय है तो जन धर्म की शिक्षा सिखाई जाती है और किसी दूसरे धर्म का, तो दूसरे धर्म के शास्त्र पढ़ाये जाते हैं। लेकिन शास्त्र जानने से क्या होता है ? सिखाने का मतलब बच्चों से शब्द और शास्त्र कंठस्थ करा लिये जाते हैं। कोरी बातें तुम्हारे दिमाग में डाल दी जाती हैं। तुम्हें बता दिया जाता है कि आत्मा है, स्वर्ग है, मोक्ष है। तुम्हें बता दिया जाता है कि केवल-ज्ञान का क्या अर्थ है, सम्यक् दर्शन क्या है, सम्यक् चारित्र क्या है। यह सब तुम सीख लेते हो, उसकी परीक्षा दे देते हो और परीक्षा में उत्तीर्ण भी हो जाते हो। लेकिन इससे कोई बेहतर आदमी पदा नहीं होता। मैं ऐसी धार्मिक शिक्षा के विरोध में हूं, क्योंकि उससे परिणाम भले की जगह बुरे ही निकलते हैं ! ऐसी शिक्षा के परिणामस्वरूप छोटे छोटे बच्चे यदि जन स्कूल में पढ़े तो जैन हो जाते हैं, मुसलमान स्कूल म पढ़े तो मुसलमान हो जाते हैं, ईसाई स्कूल में पढ़े तो ईसाई हो जाते हैं, और जन, मुसलमान, ईसाई आपस में झगड़कर परेशानी पैदा करते हैं। इन सांप्रदायिक बुद्धि के लोगों से मनुष्यता का निरंतर घात होता है। इस भांति की शिक्षा से तुम्हारे भीतर धर्म का नहीं, वरन..... धार्मिक संकीर्णता और जड़ता का जन्म होता है। तुम संप्रदायों से बंध जाते हो, सारी मनुष्यता के साथ, एकात्मकता के साथ न बंधकर एक अलग छोटे से टुकड़े के साथ बंध जाते हो और इन

टुकड़ों के कारण दुनिया में बहुत संघर्ष, बहुत वैमनस्य और बहुत ईर्ष्या चली है। इसके इतने दुखद परिणाम हुए हैं कि इतनी हिंसा बढ़ी है, जिसका कोई हिसाब नहीं। तो फिर क्या करें? मैं यह निवेदन करना चाहता हूं कि धार्मिक शिक्षा की जरूरत नहीं है, धार्मिक साधना की जरूरत है। और यह बडे आश्चर्य की बात है कि धार्मिक शिक्षा या तो जैनियों की होगी या मुसलमानों की होगी या हिन्दुओं की होगी— लेकिन धार्मिक साधना न तो जैन की होती है न मुसलमान की होती है, न हिन्दू की होती है। धार्मिक साधना तो बात ही अलग है — उसका संप्रदाय से कोई संबंध नहीं। धार्मिक साधना का क्या अर्थ है?

धार्मिक साधना का अर्थ है : बच्चों को सत्य के लिए तयार करो, प्रेम के लिए तयार करो। धार्मिक साधना का अर्थ है : बच्चों को शांति के लिए तयार करो, ध्यान के लिए तयार करो, आत्मा के भीतर जाने के लिए तयार करो। सत्य न तो जैन का होता है न मुसलमान का होता है न हिन्दू का होता है। प्रेम न तो जैन का होता है, न मुसलमान का होता है, न हिन्दू का होता है। ध्यान किसी संप्रदाय का नहीं होता। लेकिन हम देते हैं धार्मिक शिक्षा और देनी चाहिये धार्मिक साधना। लेकिन आज धार्मिक साधना देने के लिए कोई उत्सुक नहीं हैं। बच्चों को मनुष्य बनाने की किसी की उत्सुकता नहीं है। हिन्दू डरा हुआ है कि उसका लड़का ईसाई न हो जाये इसलिये उसके दिमाग में रामायण और गीता भर दी जाती है। ऐसे ही ईसाई भी भयभीत है। यह भय है सारी दुनिया में। और इस भय की वजह से सभी धर्म कहते हैं कि बच्चों को धार्मिक शिक्षा दी जाय। उनकी कोई इच्छा मनुष्य को बेहतर मनुष्य बनाने की नहीं है। उनकी इच्छा तो हिन्दू बनाने की है, जन बनाने की है, मुसलमान बनाने की है। और जो मनुष्य ऐसे विशेषणों के साथ है, वह ठीक मनुष्य नहीं है। मैं पूछना चाहता हूं कि क्यों बच्चों को हिन्दू बनाना है, जैन बनाना है, ईसाई बनाना है— क्या सांप्रदायिक मूढ़ताओं और संकीर्णताओं और वैमनस्यों ने मनुष्य जाति की काफी हानि नहीं कर ली है? धर्म का जन्म इन धर्मों के कारण ही तो नहीं हो पाता है। इसलिए जिनका धर्म से प्रेम है, उनके सामने पहला लक्ष्य है : मनुष्य जाति की धर्मों से मुक्ति। जिसे धर्म का होना है, उसके लिए धर्मों का होने का कोई भी मार्ग नहीं है। अगर मनुष्य बनाना है तो धार्मिक शिक्षा में नहीं, धार्मिक साधना में जाना पड़ेगा। और धार्मिक साधना का रास्ता बिल्कुल अलग है, धार्मिक शिक्षा से। धार्मिक शिक्षा से थोथा

पांडित्य पैदा होता है, धार्मिक साधना से धार्मिक चित्त पदा होता है। पांडित्य और ज्ञान में अंतर है। थोथा पांडित्य तो दुनिया से मिट जाये तो बेहतर। दुनिया में ज्ञान चाहिये। धार्मिक चित्त से संतत्व पैदा होता है। और संतत्व बहुत कम है, क्योंकि जिस संत को यह ख्याल हो कि मैं जैन हूं, हिन्दू हूं, मुसलमान हूं तो समझ लेना कि वह अभी पंडित ही है। अभी तो तथाकथित संत भी इस हालत में नहीं है कि पूर्ण मनुष्यता के साथ अपने को तादात्म्य कर सके। संत घर द्वार को छोड़ देता है, बच्चे छोड़ देता है, पत्नि को छोड़ देता है, वस्त्र भी छोड़ देता है लेकिन मुझे शक है उसने समाज को छोड़ा या नहीं! अगर वह हिन्दू घर में पैदा हुआ तो उसने हिन्दूपन को तो छोड़ा ही नहीं और यदि वह जन घर में पैदा हुआ है तो वह अभी भी जन बना हुआ है। वह कहता है कि मैंने समाज को छोड़ा लेकिन समाज को कहां छोड़ा? जिस समाज ने सिखाया कि तुम जैन हो, हिन्दू हो, मुसलमान हो— वह उसी का तो हिस्सा बना हुआ है। पत्नि को छोड़ना बहुत आसान है, पत्नि को छोड़ना बहुत कठिन नहीं है। यदि मोका मिल जाये तो पत्नि को छोड़ने को हरकोई राजी हो सकता है। पत्नि को छोड़ना कठिन नहीं है, क्योंकि पत्नि को झेलना एक उत्तरदायित्व है। अपने बच्चों को छोड़कर भागना भी कठिन नहीं है, हर कोई कमजोर और काहिल बच्चों को छोड़कर भागना चाहेगा। यह कोई कठिनाईयां नहीं हैं। और जिस समाज में छोड़कर भागनेवाले को आदर मिलता हो वहां तो यह बहुत ही सरल बात है। छोड़ने से व्यक्ति उत्तरदायित्व से भी बच जाता है और आदर को उपलब्ध हो जाता है। अहंकार की भी तृप्ति होती है और बोझ भी कम हो जाता है। यदि छोड़ना है तो समाज के उन संस्कारों को, उसके दिये गये विचारों को, समाज के द्वारा भीतर डाले गये ख्यालों को छोड़ो, किन्तु समाज के द्वारा डाले गये घेरे को तोड़ना कठिन है। इसे जो तोड़ता है मेरी दृष्टि में वही साधु है। और जो उसके भीतर खड़ा है, वह पंडित से ज्यादा कभी नहीं है। दुनिया में साधना की जरूरत है। ऐसे साधु यदि दुनिया में हो सके तो दुनिया एक अलग ढंग की दुनिया हो सकती है। एक बहुत बड़ी दुनिया का निर्माण हो सकता है। जहां सारी दुनिया के बीच प्रेम का सागर लहरा सके। यह कौन करेगा? अगर यह छोटे छोटे बच्चे नये ढंग से तैयार किये जायें तो यह हो सकता है। नहीं तो नहीं हो सकता। मगर यह छोटे बच्चे भी उन्हीं ढांचों में ढाले जा रहे हैं, जिनमें हजारों सालों से ढलाई चल रही है। ये भी उन्हीं ढांचों में डालकर तैयार किये जायेंगे और

उन्हीं लड़ाइयों को लड़ेंगे, ईर्ष्याओं को पालेंगे और उन्हीं घृणाओं में जियेंगे जिनमें इनके मां-बाप जिये थे। दुनिया को बदलने के लिये शिक्षा बुनियादी रूप से धार्मिक होनी चाहिये, लेकिन धार्मिक शिक्षण नहीं, धार्मिक साधना। इन बातों का स्पष्टीकरण हो जाये तो इस गुरुकुल में भी एक क्रांति हो सकती है। धार्मिक साधना की फिक्र कीजिये। बच्चों को हिन्दू या जैन बनाने की कोशिश छोड़ दीजिये। बहुत दिन दुनिया में हिन्दू, जैन टिकनेवाले नहीं हैं। दुनिया में धर्म बचेगा, हिन्दू, जैन नहीं। न यह दुनिया में बचने ही चाहिये। क्योंकि इनके कारण दुनिया में परेशानियां ही हुई हैं। यह भी मैं निवेदन करना चाहता हूं कि दुनिया से अगर हिन्दू, जन, मुसलमान, बुद्ध, इसाई चले जायें तो कोई हर्जा नहीं, महावीर, बुद्ध, कृष्ण और क्राइस्ट कहीं भी नहीं जाते। जैन के मिटने से महावीर नहीं मिटते बल्कि जैनों के होने से महावीर मिटे हुये हैं। जैनों की वजह से महावीर सबके हो नहीं पाते। एक घेरा डाले हैं जैनी महावीर के चारों तरफ और इनकी वजह से दूसरों के लिये दरवाजा बंद हैं। कितने जैन हैं जिन्होंने बायबिल पढ़ा हो, क्योंकि बायबिल को ईसाईयों ने बांधकर रखा है। क्या आपको पता नहीं कि बायबिल में अद्भुत हीरे भरे हैं? कितने ईसाई हैं जिन्होंने महावीर की वाणी पढ़ी है, क्योंकि महावीर को जन बांधकर रखे हुये हैं। और महावीर की वाणी में अद्भुत खजाने भरे हैं। दुनिया में जितने भी महत्वपूर्ण खजाने थे उन खजानों पर दुष्टों ने कब्जा कर लिया है, और पूर्ण मनुष्य जाति को उससे वंचित कर दिया है। यह घेरे टुटने चाहियें ताकि यह सारी संपत्ति सबकी हो जाये। महावीर सबके हों, राम सबके हों, कृष्ण सबके हों, क्राइस्ट सबके हों।

विज्ञान तो तुम सब पढ़ते होगे। विज्ञान की खोज तो सारी दुनिया की खोज होती है। एडीसन अगर कोई खोज करता है तो वह किसकी होती है? आईन्स्टीन अगर कोई खोज करें तो वह खोज सारी दुनिया की हो जाती है। कोई भी वैज्ञानिक दुनिया में खोज करता है तो सारी दुनिया की हो जाती है। लेकिन धर्म के संबंध में जो कोई बहुमूल्य खोज हुई है वह सारी दुनिया की अभी तक नहीं हो पाई है। इससे दुनिया बहुत दरिद्र है। इससे दुनिया को जो आध्यात्मिक समृद्धि हो सकती थी वह नहीं हो पाई।

बच्चों को इस भांति तैयार किया जाना चाहिये कि वह मनुष्य बने, धार्मिक बने। धार्मिक होना तथाकथित धर्मभेदों में उलझने से दूसरी बात है। एक दिन एक साधु मेरे पास ठहरे हुये थे। सवेरे ही उठकर उन्होंने पूछा कि

जैन मंदिर कहां है ? मैंने पूछा कि क्या करियेगा, जैन मंदिर को जानकर ? उन्होंने कहा कि मैं आत्मध्यान लिए वहां जाना चाहता हूं। सामायिक के लिये वहां जाना चाहता हूं। मैंने कहा कि आप निश्चित हैं कि आपको आत्मध्यान ही करना है ? और कोई बात तो नहीं है ? उन्होंने कहा कि : "निश्चित हूं, मुझे शांति चाहिये और आत्मध्यान करना चाहता हूं, और कुछ नहीं।" मैंने कहा कि: "यहां जो जैन मंदिर है, वह तो बाजार में है, हमारे बगल में एक चर्च है, वहां एकदम सन्नाटा है, एकदम शांति है और आज रविवार भी नहीं है, इसलिये वहां कोई ईसाई भी नहीं आयेगा, आप वहां जायें और आत्मध्यान करें" चर्च का नाम सुनते ही साधु सटपटाये और कहने लगे "चर्च में" ? मैंने कहा: आपको आत्मध्यान से कोई संबंध नहीं है। जिसे चर्च शब्द से बाधा है, वह आत्मा को जान सकेगा यह असंभव है। यह हमारे साधु की भी बुद्धि है। जिसको चर्च जैसी छोटी चीज से बाधा है वह आत्मा जैसी विराट शक्ति से कैसे परिचित हो सकता है ? यह असंभव है। मैंने कहा कि आपको जैन मंदिर जाना है, आपको आत्मध्यान से कोई मतलब नहीं है, न ध्यान से कोई मतलब है। जैन मंदिर इसलिए जाना है कि बचपन से ही यह सिखाया गया है कि "मंदिर जाना धर्म है।" लेकिन मैं आपसे कहना चाहूंगा कि आत्मा में जाना धर्म है, किसी मंदिर में जाना धर्म नहीं है। लेकिन शिक्षा अगर होगी तो वह सिखायेगी कि जैन मंदिर में जाना धर्म है, और साधना अगर होगी तो वह सिखायेगी कि भीतर जाना धर्म है। एक ईसाई से भी मैं यह ही कहता हूं कि चर्च अगर दूर है और जैन मंदिर पड़ौस में है तो वहीं बैठ जाओ, हिन्दू मंदिर पड़ोस में है तो वहीं बठ जाओ। सवाल महत्वपूर्ण यह नहीं है कि आप किस मंदिर में बैठे हैं, सवाल महत्वपूर्ण यह है कि आप अपने भीतर प्रवेश करते हैं या नहीं ? जहां आप अपने भीतर प्रवेश करते हों वहां धर्म से संबंधित होते हो और जहां आप मकानों का हिसाब-किताब रखते हो वहां आपका धर्म से कोई संबंध नहीं है।

मैं एक महानगरीमें जाता था। वहां एक मित्र के यहां ठहरता था। उनकी बगल में ही चर्च था। बहुत सन्नाटे का स्थान था। मैं सुबह ही उठता और चर्च में चला जाता। मेरे मित्र ने कहा कि "आपने मुझसे क्यों नहीं कहा, मैं आपको मंदिर ले चलता।" मैंने कहा : "मेरा काम तो यहीं पूरा हुआ।" लेकिन मैं चर्च में गया इस कारण वे बहुत दुखी हुए। फिर पांच वर्षों के बाद दोबारा उनके यहां मेहमान हुआ। सुबह वे मुझसे बोले : 'धर्मस्थान चलिये।'

गया तो हैरान हो गया। वे उसी चर्च में ले गये थे जिसको अब ईसाईयों ने बेच दिया था। अब वह स्थान मंदिर हो गया था। मैंने उनसे पूछा : यह वही जगह है, जहां मैं पहले आया था। उस समय आप नाराज हुए थे। इस बार इस जगह आप बड़ी खुशी से मुझे लेकर आये हैं। इस जगह में तो कोई भी फर्क नहीं पड़ा है। उन्होंने कहा : "बहुत फर्क पड़ गया है, पहले चर्च था अब पवित्र मंदिर है।" जिनकी बुद्धि इन तस्तियों में लटकी हो, उनको भी कभी आत्मा से संबंध हो सकता है ? यह असंभव है। लेकिन यह तख्ती तुम्हें भी सिखाई जा सकती है, इस नाम पर कि तुम्हें धार्मिक शिक्षा दी जा रही है और यह खतरनाक होगी। यह कोई धार्मिक शिक्षा नहीं है। बच्चों को सिखाया जाना चाहिये कि तुम भीतर कैसे जा सको और यह बडे मजे की बात है कि बूढे के बजाय बच्चे बड़ी आसानी से आत्मप्रवेश कर सकते हैं, क्योंकि बूढों के बजाय बच्चे ज्यादा सरल हैं, ज्यादा सौम्य हैं, ज्यादा भावयुक्त हैं। इसलिए बच्चों में बहुत शीघ्रता से भीतर प्रवेश हो सकता है। बच्चे बहुत शीघ्रता से ध्यान में और सामायिक में प्रवेश पा सकते हैं। लेकिन बच्चों को कोई सिखानेवाला नहीं है। और सिखायेगा कौन ? क्योंकि जो सिखानेवाला है उसे भी कोई पता नहीं। वह शिक्षक जो बच्चों के लिये धर्मशिक्षा के लिये नियुक्त किया गया है उसका भी आत्मा से कोई संबंध नहीं। और यह सारी कठिनाईयां हो गई हैं। शिक्षकों को भी पुनर्शिक्षित होने की आवश्यकता है। लेकिन यदि वे सोचविचार करें तो वे स्वयं ही सम्यक् दिशा में दीक्षित हो सकते हैं। वे स्वयं ही अपने विवेक को जागृत कर सकते हैं। और जिन शिक्षकों की ध्यान में गति हो, वे छोटे छोटे बच्चों को ध्यान में ले जा सकते हैं। ध्यान कठिन भी नहीं है। ध्यान अत्यंत सरल प्रक्रिया है और एक बार उसकी छोटीसी भी झलक मिल जाये तो उसे छोड़ना कठिन है। एक बार थोड़ा सा आनन्द मिल जाये तो मनुष्य का मन ऐसा है कि वह अपने आप आनन्द की तरफ बहता है। मैं यहां बोल रहा हूं और एक व्यक्ति पास में वीणा बजाने लगे तो आपमें से बहुतों का मन उसकी तरफ अपने आप बह जायेगा। क्योंकि वीणा में जो आनंद की झलक है वह मन को अपने भीतर की ओर ले जाती है। एक बार पता चल जाये कि भीतर एक आनन्द है, उसकी थोडी सी भी झलक तुम्हें मिल जाये तो तुम्हारा मन बार-बार वहीं लौट जाता है। दुनिया में बहुत से कामों के बीच चौबीस घंटे में यदि दो चार बार भी मन भीतर प्रवेश कर जाये तो जीवन में एक ताजगी होगी, एक आनन्द होगा, जो अद्‌भुत होगा। इस ताजगी और आनन्द का यह

परिणाम होगा कि तुम्हारे भीतर क्रोध और वासनाएं क्षीण होती चली जायेंगी। गुरुकुल के भीतर सर्वाधिक महत्वपूर्ण यह नहीं है कि बहुत बड़े मकान बनाये जायें, यह भी महत्वपूर्ण नहीं है कि वहाँ धर्म की शिक्षा दी जाये। यह भी महत्वपूर्ण नहीं है कि वहां खास ढंग के कपड़े पहनाये जायें, खास तरह का खाना खिलाया जाये, खास समय पर उठा जाये, वे सब बातें बहुत महत्व-पूर्ण नहीं हैं। यह जीवन का अत्यंत क्षुद्र अनुशासन है। और इनमें ही यदि विद्यार्थियों को बहुत अधिक बांध दिया जाये तो बाद में वह ऊंचा उठने में असमर्थ हो जाता है। विवेकानन्द से किसी ने अमेरीका में पूछा कि आपके देश में धर्म की बहुत चर्चा है, लेकिन धार्मिक लोग तो दिखाई नहीं पड़ते? विवेकानन्द ने कहा कि : मेरे देश में दुर्भाग्य हो गया है, मेरे देश का सारा धर्म चौके व चूल्हे का धर्म हो गया है। इसलिए सब गडबड़ हो गई है। हमारा मन चौके और चूल्हे में उलझ गया है। हमारा सारा चिन्तन एक जगह केन्द्रित है: क्या खाओ, क्या न खाओ, किस समय खाओ और किस समय न खाओ। यह सब अच्छी बातें हो सकती हैं लेकिन खतरा यह है कि तुम्हारा मन इन्हीं सारी बातों में उलझ जाये तो तुम इनसे ऊपर उठकर विराट शक्ति तक न पहुंच पाओगे।

एक गुरुकुल में जीवन की बहुत बुनियादी शिक्षा दी जानी चाहिये। मात्र आजीविका की शिक्षा पूरी शिक्षा नहीं है। तुम पांच-छः वर्षों तक यहां रहोगे इस बीच तुम किसी न किसी तरह आत्मा से संबंधित मार्ग को पा जाओ तो इसको मैं जीवन की शिक्षा और साधना कहूंगा। यही धर्म की साधना है। जीवन जीने की सम्यक् कला ही तो धर्म है। धर्म जीवन विरोधी नहीं है। और जो धर्म जीवन विरोधी हो उसे धर्म ही न जानना। वह जरूर मृत्योन्मुख रुग्ण मस्तिष्कों की उपज होगा। ऐसी मृत्योन्मुखी शिक्षाओं ने ही जीवन से धर्म का संबंध तोड़ दिया है। फिर ऐसी शिक्षाओं को जबरदस्ती ही थोपना पड़ता है। क्योंकि हमारे भीतर जो जीवन है, वह उनका विरोध करता है। धर्म का—सम्यक् धर्म का तो जीवन में सदा स्वागत है क्योंकि वैसे धर्म के आधारों पर ही तो जीवन आनन्द को, सौन्दर्य को, सत्य को और अमृत्व को उपलब्ध होता है। मिथ्या कर्म सदा ही नकारात्मक होता है। यही उसकी पहचान है। सम्यक् कर्म होता है सदा विधायक। मिथ्या धर्म आत्म-कलह में डालता है। वह कहता है यह न करो, वह न करो, यह न करो। विधायक धर्म आत्म-सृजन में संलग्न करता है। वह जीवन की सभी शक्तियों को ऊर्ध्वमुखी बनाता है। वह कहता है : यह करो, यह करो, यह करो। वह छोड़ने को नहीं, पाने को कहता है।

उसका जोर सदा ऊपर उठने का होता है। निश्चय ही जो ऊपर उठता है, उससे बहुत कुछ अपने आप छूटता जाता है। लेकिन बल पाने के लिए है, खोने के लिए नहीं। वह कहता है : संसार को नहीं छोडना है बल्कि परमात्मा को पाना है। इस संबंध में यह ध्यान रहे कि धर्म की साधना बच्चों पर थोपी न जाये क्योंकि जो थोपा जाता है प्राण उसके प्रति विरोध से भर जाते हैं। छोटे छोटे बच्चों के प्राण भी विरोध से भर जाते है और फिर यह विरोध जीवन भर उनके साथ रहता है। मैं एक बार थोड़े दिनों के लिए एक संस्कृत महाविद्यालय में था। वहां के छात्रावास में १०० के करीब विद्यार्थी थे। वे सभी विद्यार्थी शासन से छात्रवृत्ति पाते थे। छात्रवृत्ति के कारण उनसे कुछ भी करवाया जा सकता था। उन्हें तीन बजे रात्रि से उठकर स्नान करके प्रार्थना करनी पड़ती थी। सर्दियों के दिन थे। पहले ही दिन जब मैं स्नान करने कुंए पर गया था तो एकदम अंधकार था। मैंने देखा कि विद्यार्थी वहां स्नान भी करते जाते थे और प्रिन्सिपल से लेकर परमात्मा तक को गालियां भी देते जाते थे। यह स्वाभाविक ही था। उस गहरी सर्दी में स्नान करने के लिए बाध्य करने में प्रिन्सिपल का हाथ था, इसलिए वे पुरुस्कार स्वरूप प्रिन्सिपल को गालियां दे रहे थे और प्रिन्सिपल के सत्संग के कारण बेचारे परमात्मा को भी गालियां खानी पड़ रहीं थीं।

धर्म के प्रति अरुचि पैदा करना बहुत आसान है। प्रश्न तो है रुचि पैदा करने का। और धार्मिक शिक्षा देनेवाले रुचि पैदा करने में अक्सर ही असफल होते हैं। शायद मनुष्य के मन के अत्यंत सीधेसादे नियमों पर भी हम ध्यान नहीं देते हैं, इसीलिए। उस महाविद्यालय में जिस भांति प्रार्थना करवाई जा रही थी, उससे प्रार्थना के साथ अच्छे भावों का संबंध होना असंभव है। प्रार्थना तो प्रेम और आनन्द से स्फुरित हो, तो ही सार्थक हो सकती है। इसलिए मेरा कहना है : बच्चों के साथ जल्दबाजी न करना। भय से, दंड से, धर्म का संबंध न जोड़ना। ऐसी बातें उनके चित्त को सदा के लिए अधार्मिक बना देती हैं। मैंने उस महाविद्यालय के प्रिन्सिपल को यह कहा था तो वे मानने को राजी नहीं हुए थे, उल्टे उन्होंने कहा : हम कोई जबरदस्ती नहीं करते हैं। मैंने कहा : एक सूचना निकालिये कि कल से जिसे स्वेच्छा से प्रार्थना में आना हो वेही आवे। सूचना निकाली गई। किन्तु १०० में से एक भी नहीं आया। तब वे हैरान हुए। मैंने कहा : ऐसी प्रार्थना का क्या मूल्य है? फिर मैं उन बच्चों को सुबह ७ बजे लेकर प्रार्थना के लिये बठता था। प्रार्थना क्या थी, बस हम मौन

होकर बैठते और सुबह की चिड़ियों के गीत सुनते। मौन में—प्रभातकालीन मौन में बच्चों को आनन्द आने लगा। धीरे धीरे वे सभी बच्चे स्वेच्छा से सम्मिलित होने लगे। यदि किसी दिन कोई बच्चा न आ पाता तो दुखी होता, क्योंकि सुबह की प्रार्थना का जो आनंद था, उसकी कमी उसे दिन भर खलती। उस छात्रावास में प्रार्थना एक आनन्द हो गई। वे क्षण अमूल्य हो गये। उस आनन्द और शांति के लिए बच्चों के हृदय सहज ही परमात्मा के प्रति कृतज्ञता से भर जाते थे। और ये वे ही बच्चे थे जो परमात्मा को गालियां देते थे!

गुरुकुल जैसे स्थानों में जबरदस्ती जरा भी नहीं होनी चाहिये। और धर्म के संबंध में तो जरा भी नहीं होनी चाहिये। इस बात से बहुत बड़ी हानि नहीं है कि बच्चा देर तक सोता रहा, लेकिन इस बात से हानि है कि बच्चा जबरदस्ती उठाया गया। देर से सोने में दुनिया में कोई हानि नहीं हुई। दुनिया में बहुत से महापुरुष देर से सोकर उठते रहे हैं। देर से उठने या जल्दी उठने का इतना महत्वपूर्ण मामला नहीं है। यह ठीक है कि कोई जल्दी उठे, सुखद है, स्वास्थ्यप्रद है, लेकिन इससे कोई बड़ी हानि नहीं होती है। लेकिन मैं यह कहना चाहता हूं कि बच्चों के साथ किसी भी प्रकार की हिंसा नहीं होनी चाहिये। शिक्षक और मां-बाप बच्चों के साथ बहुत प्रकार की हिंसा करते हैं, और उनको ख्याल नहीं होता कि वे हिंसा कर रहे हैं। वे समझते हैं कि बहुत प्रेम प्रगट कर रहे हैं। वे समझते हैं कि हम बच्चों को बड़ा सुधार रहे हैं। अगर इस ढंग से बच्चे सुधरे होते तो आज दुनिया तक सुधर गई होती। दुनिया तो सुधरती नहीं और आप उन्हें सुधारे जा रहे हैं। आपके सुधार में जरूर गड़बड़ होगी। और अक्सर यह होता है कि जो मां-बाप बच्चों को सुधारने में लगे हैं, उनके बच्चे उतने बिगड़ते हैं, जितने दूसरे के नहीं बिगड़ते हैं। अति-अनुशासन के घातक परिणाम होते हैं। अनुशासन की जगह बच्चों के विवेक को जगायें। उनमें स्वयं की विचारशक्ति को पैदा करें। यांत्रिक अनुशासन नहीं, चाहिये सजग विवेक। लेकिन यांत्रिक अनुशासन थोपना आसान है, इसलिए हम उसे ही चुन लेते हैं। नहीं मित्रो, चाहे विवेक जगाना कितना ही कठिन हो, और उसके लिए कितना ही श्रम और प्रतीक्षा करनी पड़े, तो भी यांत्रिक अनुशासन चुनना उचित नहीं है। मनुष्य की विकृति में यांत्रिक अनुशासन से अधिक और किसी चीज का हाथ नहीं है। यांत्रिक अनुशासन की प्रतिक्रिया स्वरूप ही उच्छृंखलता खड़ी होती है। क्या आज तक यही नहीं देखा गया कि जिनके मां-बाप बच्चों को सुधारने में लग जाते हैं, उसके विपरीत ही बच्चे खड़े हो जाते हैं?

इसके पीछे कारण हैं। क्योंकि अच्छा करने के पीछे आप बच्चों के साथ हिंसा करने लगते हैं, क्योंकि आपके पास ताकत है—— लेकिन बच्चा प्रतिहिंसा को इकट्ठी करता रहेगा और वह आज नहीं कल उसका बदला लेगा। और बदला खतरनाक होगा। जब भी लड़के के हाथ में ताकत आयेगी वह आपके विरोध में खड़ा हो जायेगा। और जो जो आपने सिखाया था, उसके उल्टा वह चलने लगेगा। दुनिया में इतनी अनैतिकता है, दुनिया में इतनी अनुशासनहीनता है, लड़के आज्ञा तोड़ रहे हैं, लड़के मां-बाप की मर्यादाएं नष्ट कर रहे हैं। इसमें मां-बाप और शिक्षकों का ही हाथ है। सारी मर्यादाएं जबरदस्ती थोपी जा रही हैं और उनके विरोध में प्रतिक्रिया खड़ी होती है।

इन बच्चों के साथ आपकी बहुत बड़ी कृपा यह होगी कि इन बच्चों के साथ किसी भी तरह हिंसा का वातावरण गुरुकुल में न हो। इन पर किसी भी प्रकार का दबाव, इन पर किसी भी प्रकार का बलपूर्वक अनुशासन न हो। अच्छे करने के लिए भी नहीं, क्योंकि दुनिया में जबरदस्ती से कोई कभी अच्छा हुआ ही नहीं है। तो आप कहेंगे कि स्वच्छन्दता हो जायेगी, फिर इन बच्चों का क्या होगा ? तो मैं यह निवेदन करूं कि बच्चे प्रेम से बदलते हैं, जबरदस्ती से नहीं। जितना ज्यादा से ज्यादा प्रेम दिया जा सके, उतना वे अनुगृहीत होते हैं। जितनी स्वतंत्रता दी जा सके, उतना वे आदर से भरते हैं। जितना बच्चों को ज्यादा से ज्यादा प्रोत्साहन दिया जा सके, मुक्त किया जा सके, उतना ही उनके मन में सदिच्छा पैदा होती है और वे मानने को तैयार होते हैं। बच्चों को जितना ज्यादा दबाया जाये उतना ही विरोध पैदा होता है। फ्रायड का नाम आपने सुना होगा। बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक हो गया है। एक दिन वह, उसकी पत्नि और उसका बच्चा बगीचे में घूमने गये। जब रात हो गई और वे घर को लौटने लगे तो बच्चा दिखाई नहीं दिया। पत्नि घबड़ा आई और बोली : "अब बच्चे को कहां खोजें ?" क्या आप सोच सकते हैं कि फ्रायड ने क्या पूछा ? उसने पूछा : "तुमने बच्चे को कहीं जाने के लिये तो मना नहीं किया था ?" पत्नि ने कहा : बड़े फुहारे पर जाने के लिये मना किया था। फ्रायड बोला: तो चलें, वहीं चल कर देख लें। वह फव्वारे पर पैर लटकाये बठा हुआ था। उसकी पत्नि बोली कि आपने कैसे पहचान लिया कि बच्चा बड़े फव्वारे पर हो गया होगा ? फ्रायड ने कहा कि पूरी मनुष्य जाति का अनुभव यही है। जिन बातों के लिये मां-बापों ने मना किया, बच्चे वहां गये। इसलिये मना करनेवाले मां-बाप जिम्मेवार हैं। उनकी मनाही में जिम्मा है। बच्चे वहां जायेंगे जहां मना किया गया है। जरा

मना करते वक्त सोचसमझकर ही मना करना। क्योंकि हम जिस बात को कह रहे हैं, मत करो, जिस बात को कहा जाये मत करो, वह करने की प्रेरणा बन रही है। बच्चे के मन में यह बात बल पकड़ रही है कि वहां कुछ होगा, कुछ रहस्यपूर्ण, जानने जैसा और कुछ करने जैसा। आप उसके भीतर खोज को जगा रहे हैं। भीतर जिज्ञासा को जगा रहे हैं। दुनिया में जो पतन हुआ है, वह 'मत करो' की शिक्षा के कारण ही हुआ है। अभी भी धर्म-गुरु, संन्यासी यह कहते हैं कि यह मत करो, वह मत करो, इन सब बातों का परिणाम यह हो रहा है कि पतन रोज करीब आता जा रहा है। मनुष्य नीचे गिरता जा रहा है।

'मत करो' की शिक्षा से विषाक्त और जहरीली शिक्षा न कोई है, न हो सकती है। इसलिए इन बच्चों को 'मत करो' की शिक्षा देना ही नहीं। इन बच्चों को यह सिखाना कि कुछ चीजें करने जैसी हैं। यह मत सिखाओ कि कौनसी चीजें न करने जैसी हैं। नकारात्मक नहीं, विधायक शिक्षा होनी चाहिये। दुनिया में कौनसी चीजें करने जैसी हैं और उन चीजों में कौनसा आनन्द है, उस आनन्द की ओर इन्हें प्रेरित करें। बच्चों से यह कहें कि मांस मत खाना, वह मांस अवश्य ही खायेंगे। उन्हें यह कहा जाये कि शराब मत पीना, वे आज नहीं कल शराब जरूर पियेंगे। इसमें कसूर होगा उन लोगों का जो इन्हें समझा रहे हैं, सिखा रहे हैं। उनको क्या सिखाया जाय फिर? बच्चों को कुछ करने के लिए बताया जाये, न करने के लिये नहीं। जीवन के सृजनात्मक द्वार उनके लिए खोले जावें। निषेध नहीं, विधेय ही शिक्षा का लक्ष्य हो। उन्हें आनन्द में—सृजनात्मक आनन्द की ओर उन्मुख किया जाये। फिर तो वे दुःख से और अशांति से स्वयं ही दूर रहेंगे। उन्हें प्रकाश के लिए दीक्षित किया जावे फिर तो अंधकार उन्हें खुद ही प्रीतिकर न रहेगा। और हम करते हैं उल्टा ही। प्रकाश की दिशा तो नहीं देते, हां अंधकार से बचने की शिक्षा जरूर देते हैं।

एक बार एक मित्र मेरे पास आये। उन्होंने आकर कहा कि, मैं बहुत दिनों से आपके पास आना चाहता था, लेकिन नहीं आया कि आपके पास आऊंगा तो आप मांस और शराब छोड़ने के लिए कहेंगे। ये दोनों काम मैं करता हूं। मैंने कहा कि: 'जिन्दगी में मैंने तो कभी नहीं कहा कि 'यह छोड़ो, यह मत करो.' वे बोले कि यह जैसे ज्ञात हुआ कि मैं आपके पास आ गया हूं। उन्होंने कहा, मेरा मन बड़ा अशांत है। मैंने उनसे ध्यान करने के लिये कहा। मन कैसे शांत हो, इसके बारे में कहा। उन्होंने कहा कि: इसके लिए मांस और शराब पीना छोड़ना तो जरूरी नहीं है? मैंने कहा: बिल्कुल नहीं। तीन माह बाद

वापिस लौटे, तो कहने लगे कि जैसे जैसे मन शांत होता गया, शराब पीना मुश्किल हो गया। शांत मन का व्यक्ति शराब नहीं पी सकता। छोड़नी ही पड़ती है। पीने का कारण ही नहीं रह जाता। अशांत मन भूलना चाहता है अपने को, इसलिए शराब पीता है, सिनेमा देखता है, गाना सुनता है। यह सब भूलने की तरकीबें हैं। अगर भूलने की तरकीबें छीन ली जायें तो वह पागल हो जायेगा। मन अगर शांत है तो भुलाने के लिये उपाय करने की जरूरत ही नहीं है। उन्होंने मुझसे कहा : शराब तो गई, क्या मांसाहार भी छोड़ना पड़ेगा ? मैंने कहा : मुझको पता नहीं। अभी भी आपकी मर्जी है तो ध्यान छोड़ दें। उन्होंने कहा : अब ध्यान छोड़ना कठिन है। क्योंकि भीतर मुझे झरता हुआ आनन्द मालूम होता है। वे तीन माह बाद वापिस लौटे और कहने लगे कि मांस खाना भी कठिन हो गया है। कल एक मित्र के पास पार्टी में गया था। पार्टी में मांस खाने का आग्रह हुआ। मुझे विश्वास ही नहीं हुआ कि मैंने पहले मांस कैसे खाया। और मुझे ग्लानि होने लगी। घर लौटते ही मुझे कै हो गई। यह निश्चित है कि मन जब शांत होगा तो दूसरे को दुःख देना असंभव हो जाता है। मन जब अशांत होता है, तो दूसरों को दुःख देने में मजा आता है। यह सब भीतर अशांति के कारण होता है। तो बच्चों को विधायक रूप से शांत होने का उपाय समझाइये। उन्हें जीवन में शांत होने की प्रक्रिया दें। शांत चित्त ही समग्र बुराइयों और पापों के प्रति एकमात्र सुरक्षा है। इसके लिए एक ही उपाय है कि नकारात्मक शिक्षा को क्षीण करें। बच्चों के जीवन में आनन्द जगायें। और जहां आनन्द है, जहां शांति है, जहां बच्चों के भीतर विवेक है, वहां बच्चों को बुरे काम करने की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। लेकिन हम सिखाते हैं बुरे काम मत करो। हम गलत ही बात सिखाते हैं। और जब आदमी को गलत बातें करता देखते हैं तो जमाने को दोष देते हैं। कोई जमाने की खराबी नहीं है। क्योंकि हमारे दृष्टिकोण, हमारे आधार सबके सब गलत हैं। ये ही बच्चे अद्‌भुत रूप से शांत, अद्‌भुत रुप से मानवी गुणों को उपलब्ध हो सकते हैं। क्योंकि आज हम जो भी कर रहे हैं गलत है, परिणाम भी गलत निकल रहे हैं। विधायक रूप से बच्चों के जीवन में कुछ करने की चेष्टा की जाये तो गुरुकुल है, वरना गुरुकुल नाम ही रह जाता है। जसे और स्कूल हैं, वैसे यह भी स्कूल है। हो सकता है, आप इस पर चिन्तन करेंगे, विचार करेंगे, कुछ रास्ता खोजेंगे तो बच्चों को तेजस्वी जीवन दिया जा सकता है कि सारे देश में गरुकुल के बच्चे अलग से दिखाई पड़ें। गुरुकुल के बच्चे यहां की खबर ले

जावें, यहां की हवा ले जावें, यहां की सुगन्ध ले जावें और जहां जावें वहां यह स्पष्ट प्रतीति हो कि इन्होंने जीवन दृष्टि और तरह की पाई है, इन्होंने और तरह का व्यक्तित्व पाया है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि आपमें से दो चार डाक्टर हो जावेंगे। बहुत डाक्टर हैं, दुनिया में उससे क्या फर्क पड़ने वाला है। तुममें से दो-चार इंजीनियर हो जावेंगे, दो चार योरोप चले जायेंगे। इससे क्या फर्क पड़ने वाला है? लौटकर आयेंगे तो और शोषण करेंगे, और उपद्रव करेंगे, समाज का और पसा छीनेंगे और कुछ नहीं करेंगे। यह कोई मूल्य की बात नहीं कि हमारे गुरुकुल से इतने डाक्टर हो गये, इतने इंजीनियर हो गये, इतने मिनिस्टर हो गये। क्या मिनिस्टर होना बहुत अच्छी बात है? रोज मिनिस्टरों को देखते हो और फिर भी ऐसा सोचते हो तो अंधे हो। राजनीतिज्ञों के कारण ही तो मनुष्यता संकट में है। राजनीतिज्ञ के कारण ही दुनियां युद्धों में है। सो इस बात का बिल्कुल गौरव मत मानना कि तुम्हारे गुरुकुल से कोई बड़ा राजनीतिज्ञ पैदा हो गया है। इससे तो शर्मिंदा ही होना! डाक्टर और इंजीनियर तो फिर भी ठीक हैं, यह मिनिस्टर तो बिल्कुल भी ठीक नहीं है! मैं तो चाहूंगा कि तुम इतने अच्छे आदमी बनना कि तुमसे कोई भी मिनिस्टर न होना चाहे. महत्वाकांक्षा तो रोग है और वह केवल उनमें ही जड़ पकड़ता है जो कि स्वयं में हीन-ग्रंथि से पीड़ित होते हैं। महत्वाकांक्षा भी विक्षिप्तता का एक प्रकार है। स्वस्थ चित्त व्यक्ति महत्वाकांक्षी नहीं होता है। शिक्षा सम्यक् हो तो जीवन में महत्वाकांक्षा का कोई स्थान न होना चाहिये। जिओ— गहरा से गहरा जीवन जिओ। लेकिन पद और यश के लिए जो जीता है, वह तो गहरा कभी भी नहीं जी पाता है। वह तो अत्यंत उथले में जीता है। उसका कोई जीवन थोड़े ही है? वह तो महत्वाकांक्षा से खींचा जाता है। जीवन उसका एक शांति और आनन्द नहीं बल्कि एक तनाव और पीड़ा है। इसलिए कितने महत्वाकांक्षी पागल पैदा किये गये, इससे गुरुकुल की प्रतिष्ठा बढ़ने वाली नहीं है। यह एक धर्म प्रतिष्ठान है, इसके लिये कोई और गौरव निर्मित करें, यह एक आदर की बात— होगी कि गुरुकुल से निकला हुआ विद्यार्थी महत्वाकांक्षी न हो, पदाकांक्षी न हो, धनाकांक्षी न हो तो हम कह सकते हैं कि हमारे गुरुकुल से निकला विद्यार्थी विक्षिप्त नहीं है, स्वस्थ चित्त है। बच्चों को महत्वाकांक्षा नहीं, प्रेम सिखाइये। बच्चों को प्रथम आने की दौड़ में मत लगाइये। बच्चों को अंतिम खड़ा होने की सामर्थ्य और बल सिखाइये। क्राइस्ट ने कहा है: "धन्य हैं वे लोग, जो अंतिम खड़ा होने में समर्थ हैं।" उन लोगों को धन्य नहीं कहा जो प्रथम खड़े

हो जाते हैं। क्राइस्ट ने उन लोगों को समर्थ कहा है जो अंतिम खडे होने में समर्थ हैं। तो गुरुकुल तो वह होगी कि बच्चे को हम यह सिखायें कि वह सब भांति के पागलपनों में दूर पीछे खड़े रहने को समर्थ हों। वह प्रेम में इतना आगे हो कि प्रतिस्पर्धा में पीछे खड़ा हो सके। लेकिन हम तो प्रतिस्पर्धा सिखाते हैं, प्रेम नहीं, और तब यदि हमारी सभ्यता रोज युद्धों में पड़ जाती हो तो आश्चर्य नहीं। शायद हम सोचते हैं कि बिना स्पर्धा के तो कुछ सिखाया ही नहीं जा सकता है, लेकिन यह भूल है। स्पर्धा का ज्वर पैदा करके जो भी सिखाया जाता है, वह सब घातक है, क्योंकि फिर वह ज्वर जीवन भर नहीं उतरता है। स्पर्धा नहीं, सहयोगियों से स्पर्द्धा नहीं, वरन् जो सिखाया जा रहा है, उसके प्रति प्रेम और आनन्द पैदा करें। संगीत साथियों से स्पर्धा में भी सीखा जा सकता है और संगीत के प्रेम में भी। ऐसे ही गणित भी और ऐसे ही शेष सब कुछ। निश्चय ही संगीत से प्रेम में भी एक स्पर्धा होगी, लेकिन वह स्वयं से ही होगी। वह होगी स्वयं को ही निरंतर अतिक्रमण करने की। मैं जहां आज हूं वहां मुझे न पायें। मैं जहां कल था, वहीं आज भी न ठहरा रहूं। ऐसी आत्मस्पर्धा शुभ है। लेकिन दूसरों से जो प्रतियोगिता है, वह जीवन को बहुत दुखों और तनावों में ले जाती है, क्योंकि उस सारी दौड़ का केन्द्र अहंकार है और अहंकार नर्क का मार्ग है।

लेकिन अभी तो सभी भांति परोक्ष अपरोक्ष अहंकार ही सिखाया जाता है। वह देखो—दीवाल पर क्या लिखा है? लिखा है: राजा तो केवल अपने ही देश में लेकिन विद्वान सर्वत्र पुजता है। इसका क्या अर्थ है, क्या प्रयोजन है? निश्चय ही एक ही अभिप्राय है कि विद्वान बनो। लेकिन क्या पुजने की पूजा पाने की इच्छा कोई शुभेच्छा है? इसी भांति त्याग की शिक्षा भी दी जाती है। त्यागी बनो क्योंकि त्यागी पुजता है। लेकिन जो पुजना चाहता है क्या वह ज्ञानी या त्यागी हो सकता है? पूजा पाने की इच्छा तो अत्यंत गहरे अज्ञान और मूढ़ता से उत्पन्न होती है। वह तो निपट अहंकार है। और अहंकार से बड़ा न दुःख है, न दारिद्रय है, न दुर्भाग्य है।

सम्यक् शिक्षा अहंकार से मुक्तदायी होनी चाहिये। क्या यह गुरुकुल ऐसे बच्चे पैदा नहीं करेगा जो निरहंकारी हों? यह एक बात ही हो सके तो जीवन में क्रांति हो जाती है। क्या हम ऐसे बच्चे तैयार नहीं कर सकते हैं जो सरल हों, सहज हों और जिन्हें जीवन में——दैनन्दिन जीवन में आनन्द हो? परमात्मा के सौन्दर्य को जानने में उसके संगीत को अनुभव करने में केवल वे ही सफल हो सकते हैं जो कि सहज और सरल हैं।

मैं बहुत आशाओं से भरा हुआ आपसे विदा लेता हूं। मनुष्य तो अनगढ़ पत्थरों की भांति है। मैं अभी यहां की गुफाओं से लौटा हूं। उन पत्थरों को सृष्टा कारीगर मिल गये इसलिए वे साधारण से पाषाण प्रतिमाएं बनकर अप्रतिम सौन्दर्य को उपलब्ध हो गये हैं। प्यारे बच्चो, तुम्हारा जीवन भी ऐसे ही सौंदर्य को प्राप्त कर सकता है। लेकिन तुम्हें अपना सृष्टा बनना होगा। निश्चय ही तुम्हारे शिक्षक, तुम्हारा गुरुकुल, तुम्हारे मां-बाप इसमें बहुत सहयोगी हो सकते हैं, लेकिन फिर भी अंतिम जिम्मेवारी तो तुम्हारी-तुमपर ही है। मनुष्य के निर्माण में वह स्वयं ही पत्थर है और स्वयं ही कारीगर और स्वयं ही वे उपकरण, जिनसे कि एक पाषाण प्रतिमा में परिवर्तित होता है।

जिन खोजा तिन पाइयां

पूना में प्रश्नोत्तर

संकलन : सुश्री क्रांतिदेवी

मेरे प्रिय आत्मन्, आपने बहुत से प्रश्न पूछे हैं और सभी प्रश्न बहुत अर्थपूर्ण हैं। सभी का उत्तर दे सकूं, ऐसा ही मेरा मन है, लेकिन शायद इतने सारे प्रश्नों के उत्तर नहीं हो पायेंगे, फिर भी आप मेरी दृष्टि तो समझ ही सकेंगे। उसका ही मूल्य भी है।

पहला प्रश्न है : मैं शून्यता सिखाता हूं। और, यदि हम शून्य हो जायेंगे तो जड़ हो जाएंगे। शून्यता से तो जड़ता आ जाएगी और फिर विचार शून्यता तो पशुओं में, पक्षियों में, पौधों में है ही। यदि मनुष्य भी विचारशून्य होगा, तो उसकी स्थिति भी पशुओं और पौधों जसी होगी—यह पूछा है। यह बहुत महत्वपूर्ण बात पूछी है, समझने, और ठीक से समझने के उपयोग की है।

सबसे पहले तो विचारहीन और विचारशून्य होने में भेद है। विचारहीन का अर्थ है, जिसमें अभी विचार की शक्ति का जन्म नहीं हुआ है और विचार-शून्य का अर्थ है कि जिसमें विचार शक्ति का तो जन्म हुआ है, लेकिन विचार की शक्ति को उसने बाहर से आये विचारों से मुक्त कर लिया है। मैं विचार शक्ति से शून्य होने को नहीं कह रहा हूं। मैं विचारों से शून्य होने को कह रहा हूं। विचारशक्ति से शून्य होना एक बात है और विचारों से शून्य होना बिल्कुल दूसरी बात है। सच तो यह है, जो व्यक्ति जितना ज्यादा विचारों से भरा होता है उसकी विचारशक्ति उतनी ही दब जाती है और क्षीण हो जाती है, और जो

व्यक्ति जितने कम विचारों से भरा होता है, उसकी विचारणशक्ति उतनी ही प्रगट और अभिव्यक्त होती है। यदि विचार बिल्कुल शून्य हो जाय, तो विचार-शक्ति पूरे रूपों में प्रगट होनी शुरू हो जाय।

विचार और विचारशक्ति में फर्क समझ लेना है। विचार दूसरों से मिलते हैं, विचारशक्ति स्वयं की होती है। विचारशक्ति प्रत्येक व्यक्ति का निज स्वरूप है और विचार दूसरों से मिले हुए उधार आवरण हैं। आप अपने भीतर देखें। आपको जितने भी विचार मालूम होंगे, वह दूसरों से आये हुए मालूम होंगे। किन्हीं शास्त्रों से, किन्हीं सम्प्रदायों से, किन्हीं संस्कारों से उन विचारों का आगमन हुआ है। लेकिन विचारशक्ति आपकी अपनी है, कहीं से आयी नहीं है। विचार-शक्ति आपके भीतर है, विचार बाहर से आये हैं। जो विचार बाहर से आये हैं, उन्होंने आकर आपकी विचारशक्ति को घेर लिया है। तो जब मैं कह रहा हूं कि हम विचारशून्य हो जायं, तो आत्मसाक्षात्कार सम्भव होगा, वह इसीलिए कह रहा हूं कि विचारशून्य होने का अर्थ है बाहर से आये हुए विचार आपके चित्त पर न रह जायं। तब मात्र विचार शक्ति की ऊर्जा भीतर रह जाएगी और जब विचारशक्ति अपने शुद्धतम रूप में प्रज्वलित होती है, तो उसकी लपट शुद्ध हो जाती है। विचारों के धुएं के हटते ही उसकी ज्योति शुद्ध हो जाती है। तब व्यक्ति के जीवन में एक क्रान्ति घटित हो जाती है। उस शुद्ध लौ में वह स्वयं को जान पाता है और समस्त को भी। इसीलिए प्रारम्भ में मैं आपसे यह कह दूं कि विचारशून्य होने का अर्थ विचारशक्ति से शून्य होना नहीं है, विचार से शून्य होने का अर्थ ही यह है कि ताकि विचार शक्ति अपने शुद्धतम रूप में प्रगट हो सके। विचार दूसरों से आये हैं। विचारशक्ति निज की है। जो निज की है, उसे प्रगट करना है। तो जो दूसरों से कचरा इकट्ठा हुआ है, उसको अलग कर देना होगा। तो यह ख्याल में न लें कि विचारशून्य हो जाएंगे, तो जड़ हो जाएंगे। विचारों के कारण आप जड़ हैं। मनुष्य विक्षिप्त होता है, पागल होता है, जब उसके पास बहुत विचार होते हैं। विचारों की अति में ही वह विचार खो देता है, विचारों की आपसे उसके पास तादाद ज्यादा होती है, लेकिन वह विक्षिप्त क्यों है? विक्षिप्त इसलिए है कि इतने विचारों ने उसको घेर लिया है कि उसकी विचारशक्ति बिल्कुल ही क्षीण हो गई है।

विचार में और ज्ञान में आपको अन्तर समझना है। ज्ञान अलग बात है, विचार अलग बात है। जितने ज्यादा विचार भर जायेंगे, ज्ञान उतना कम हो जाएगा। जितना चित्त निर्विचार होगा, ज्ञान उतना प्रगट होगा। इसलिए ध्यान,

समाधि, सामायिक, प्रार्थना, नमाज से सारी बातें इस बात पर जोर देती हैं कि विचार कम हो जायें, विचार क्षीण हो जायें, विचार शून्य हो जायें। विचार शून्य होने से अर्थ है कि जो भी बाहर से आया है, वह फेंक दिया जाय ताकि जो भीतर है, वह प्रगट हो सके। जैसे कोई कुंवा खोदता है, तो पानी तो भीतर मौजूद होता है, पर मिट्टी की और पत्थर की परतें उसे अलग कर देनी होती हैं। फिर जल के स्रोत निकल जाते हैं। वैसे ही ज्ञान प्रत्येक के भीतर है, वह स्वतंत्र है, वह हमारी चेतना का स्वभाव है, पर जो इकट्ठा है अगर वह अलग कर दिया जाय तो ज्ञान के जलस्रोत प्रगट हो जाते हैं। लेकिन जो ऊपर से इन स्रोतों पर दूसरी चीजें भर लेगा और लाद लेगा, वह उतना ही अपनी ज्ञान शक्ति से दूर होता जाता है। ज्ञान की प्रक्रिया को समझाते हुए मेरा जो यह आग्रह है कि विचारशून्य हो जायें, वह इसलिए भी है कि विचारों से मिलकर ही आपका अहंकार बनता है। और जिस व्यक्ति में यह भाव है कि मैं हूं, वह व्यक्ति विश्वसता से संबंधित नहीं हो सकता। अगर विचारशून्य हो जायें तो वह भाव विलीन हो जाता है कि मैं हूं, तब आप होते तो हैं, लेकिन मैं का भाव नहीं होता, सत्ता तो होती है। लेकिन "मैं" अहंकार नहीं होता। उस क्षण जब मैं टूट जाता है विश्व सत्ता से, समग्र सत्ता से संबंधित हो आप एक हो जाते हैं।

अभी मैं आता था तो चांद निकला हुआ है और चारों तरफ इतनी चांदनी है, लेकिन घरों में प्रकाश जल रहे हैं। वे छोटे छोटे प्रकाश चांद को छिपाये हुए हैं। घर में बैठा था, तब प्रकाश जल रहा था। तो बाहर चांद की रोशनी का पता ही नहीं चलता था। प्रकाश को बुझा दिया, एकदम जैसे क्रान्ति हो गयी और चांद प्रकट हो गया। वह जो घर का छोटा सा दिया है, वह इतने बड़े चांद को छिपा लेता है। एक महाकवि पूर्णिमा की रात में नाव पर थे, शरदपूर्णिमा थी। वे एक बजरे पर, एक नाव पर यात्रा करते थे। आधी रात तक एक मोमबत्ती जला कर उस नाव के छोटे से झोपड़ों में वे कुछ ग्रन्थ पढ़ते रहे थे। यह मोमबत्ती जलती रही झोपड़ी में। तो चांद का प्रकाश बाहर का बाहर रुका रहा। रात को दो बजे उन्होंने किताब बन्द की, मोमबत्ती बुझायी और बिस्तर पर लेटे। वे एकदम दंग हो गये। उन्होंने देखा कि मोमबत्ती के बुझते ही चांद की रोशनी भीतर प्रविष्ट हो गयी। एक छोटीसी मोमबत्ती भीतर जलती थी, तो चांद बाहर खड़ा रहा। और ऐसे ही जब तक अहंकार की मोमबत्ती भीतर जलती हो तब तक परमात्मा भी बाहर खड़ा

रहता है। जो उसे बुझा देता है, वह तत्क्षण हैरान हो जाता है। फिर तो चारों ओर से परमात्मा प्रविष्ट होता है।

यह जो विचार को छोड़ने के लिए मेरा जोर है, वह इसीलिए कि विचार ही समग्रीभूत रूप से इकट्ठे होकर मैं को जन्म देते हैं। विचारों का सतत आवर्तन ही 'मैं' बन जाता है। अगर मैं एक जलती हुई मसाल को हाथ में लेकर गोल घुमाऊं, तो आपको अग्नि का एक वृत बना हुआ दिखाई देगा। वह वृत धोखा ही है। मशाल जोर से घूम रही है, इसलिए वह अग्निवृत निर्मित हो रहा है। वह कहीं है नहीं, वह आंखों का भ्रम ही है, क्योंकि आंखें तीव्रता से घूमती मशाल के मध्य के अंतरालों को नहीं देख पा रही हैं। आंखें उन अन्तरालों को देख सकें, तो फिर वह अग्निवृत कहीं भी नहीं है। यदि मशाल रुक जाय तो दिखायी पड़ेगा कि अग्नि का चक्कर तो नहीं है, केवल मशाल है। ऐसे ही विचार निरन्तर घूम रहे हैं। उनके घूमने के सतत आवर्तन के कारण ही मैं – वृत्त निर्मित होता है और मालूम पड़ता है कि मैं हूं। यदि विचार-प्रवाह ठहर जाय तो एकदम पता चलता है कि मैं नहीं हूं, सत्य है। मैं नहीं हूं, परमात्मा है। विचार के शून्य होते ही दर्शन होता है कि मैं नहीं हूं, परमात्मा है, और जितनी विचारों की भीड़ घनी होती जाती है उतना ही पता चलता है कि परमात्मा नहीं है, मैं हूं।

इस सदी से सर्वाधिक विचार हैं। इतने विचार कभी भी नहीं थे। और यही कारण है कि इस सदी में सबसे कम परमात्मा है। परमात्मा के कम होने का और कोई दूसरा कारण नहीं है। विचारों की भीड़ अत्यधिक हो गई है। प्रति सप्ताह ५ हजार ग्रन्थ छपते हैं। इतने शास्त्र, इतने ग्रन्थ, इतने पुस्तकालय, इतने अखबार, इतनी किताबें, इतनी पत्रिकाएं कभी नहीं थीं। जितने विचार आज हैं और जितने शब्द आज घूम रहे हैं और मनुष्य के कानों और उसकी अन्तरात्मा पर छा रहे हैं, वैसा पहले कभी नहीं था। और यह विचारों की अतिशयता मनुष्य में यह भ्रम दे रही है कि मैं हूं और जिस मनुष्य को भ्रम होता कि मैं हूं, साथ ही साथ छाया की तरह यह भी भ्रम होता है कि ईश्वर नहीं है, क्योंकि ये दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। यह भाव कि मैं हूं, अन्ततः इस भाव से जुड़ा होगा कि ईश्वर नहीं है। ये दोनों संयुक्त घटनाएं है। जिस सदी में मनुष्य को ऐसा लगेगा कि मैं हूं, उस सदी में उन्हें लगेगा कि ईश्वर नहीं हैं। जितना तीव्र प्रकाश अपने व्यक्तित्व के घरों में अहंकार का जलेगा, उतना ही परमात्मा के प्रकाश से हम वंचित हो जायेंगे।

जब मैं कह रहा हूं कि उन विचारों को छोड़ दें, तो मैं कह रहा हूं कि अपने भीतर, घर के भीतर जलती हुई, टिमटिमाती हुई मोमबत्ती को बुझा दें और फिर देखें। और मैं जो कह रहा हूं, वह इस वजह से नहीं कि मैं कह रहा हूं इसलिए मान लें, नहीं। माने नहीं। मैं कहता हूं, करें और देखें। यह कोई सैद्धांतिक बातचीत नहीं है। यह कोई शास्त्रीय उपदेश नहीं है। यह कोई तार्किक बात भी नहीं है कि कोई चीज मैं तर्क से सिद्ध कर रहा हूं। मैं एक अत्यन्त प्रयोगात्मक बात कह रहा हूं। एक ऐसी बात कह रहा हूं, जिसे करें और देखें। अहंकार की मोमबत्ती को बुझा कर देखें, अपने घर के भीतर के दिये को, तो पता चलेगा कि चांद की रोशनी भीतर प्रविष्ट हो जाती है। एक जरा सा टिमटिमाता दिया परमात्मा को रोके रहता है। लेकिन 'मैं' तब तक नहीं बुझेगा जब तक कि विचारों को विदा न दी जाय, क्योंकि विचार ही उसके दिये का तेल है। नहीं बुझेगा, जबतक विचार ही उस दिये का भोजन है, जो कि 'मैं' को जलाये हुए रखता है। विचारों को अलग करें, क्रमशः दिया बुझता जायेगा अहंकार का। विचार न हों तो आप पायेंगे, वहां कोई दिया ही नहीं है। और जिस घड़ी आप निर्विचार होकर देखेंगे, आपको पता चलेगा कि 'मैं' कभी था ही नहीं। और जो था, जो सदा से था, वह अब भी है और आगे भी होगा। 'मैं' मेरा भ्रम था और जिस मनुष्य को यह ज्ञात हो जाय कि 'मैं' मेरा भ्रम था, वह सत्य को उपलब्ध हो जाता है। वैसा सत्य, जीवन के अनन्त आनन्द को, सौन्दर्य को और अमृत प्रकट करता है।

तो विचार छोड़कर आप जड़ नहीं होंगे। हां, अगर विचार के पीछे ही चले जाले, तो निश्चित ही आप जड़ हो जायेंगे। विचार को छोड़कर ही आत्म परिपूर्ण चेतना प्रकट होगी। और यह इतनी सरल बात है, अगर एक बार स्पष्ट रूप से ख्याल में आ जाय, तो इतनी सरल बात है इतनी सरल, क्योंकि छायाओं को मिटा देना बहुत कठिन नहीं होता है और भ्रमों को तोड़ देना बहुत कठिन नहीं होता है और सपनों को मिटा देना बहुत कठिन नहीं होता है। यह सब स्वप्न हैं हमारे, जो तोड़े जा सकते हैं। लेकिन यदि हम उन्हें तोड़ना ही न चाहें, तो निश्चय ही बात बहुत कठिन हो जाती है.

☆ ☆ ☆ ☆

दूसरा प्रश्न है : नीति पर मैं बहुत जोर क्यों नहीं देता हूं? मैं आत्मनिरीक्षण पर, ध्यान पर, विचारशून्यता पर जोर देता हूं, लेकिन नीति पर जोर क्यों नहीं देता हूं?

निश्चित ही मैं नीति पर जोर नहीं देता, न जोर देने का कारण है।

अगर मैं आपसे कहूं कि घर में दिया जला लें तो क्या आप मुझसे कहेंगे कि आप दिये जलाने की तो बात कहते हैं, लेकिन अन्धेरा निकालने पर जोर नहीं देते ? मैं कहूंगा कि निश्चित ही अन्धेरा निकालने की बात पर मैं बिल्कुल ही जोर नहीं देता। कोई पागल हो, तो ही अन्धेरा निकालने पर जोर दे सकता है। मैं तो दिये जलाने पर जोर देता हूं। मतलब यह है कि यदि विवेक जाग्रत हो जाय, तो अनीति असम्भव हो जाय। इसलिए नीति पर जोर देने का कोई कारण नहीं है। जिस मनुष्य का विवेक जाग्रत हो, वह अनीति नहीं कर सकेगा और जिस मनुष्य का विवेक जाग्रत न हो वह किसी तरह अगर जबरदस्ती नैतिक हो भी जाय, तो उसकी नीति का कोई भरोसा नहीं, विश्वास नहीं, वह नीति मिथ्या है, क्योंकि उस नीति के पीछे कोई जाग्रत विवेक नहीं, वरन् मूर्च्छित मन है। और बेहोश व्यक्ति का भरोसा ही क्या? ऐसी नीति के पीछे ही अनीति छिपी होती है। ऐसे आधार की छाया की भांति ही अनाधार खड़ा होता है। ज्ञान के अतिरिक्त जो भी साधा जाता है, वह अज्ञान में होने से आत्मवंचना ही है। वह क्रांति आत्मिक नहीं, मात्र आचारगत है। और जो आत्मिक नहीं है, वह क्रांति ही नहीं है। ऐसे सम्हाले गये आधार में दमन की दुर्गंध तो होती है, वह सौंदर्य और सुगंध नहीं, जो आत्मा से जगे आधार में होती है। फिर यह भी स्मरण रखें कि जो नीति जबरदस्ती आरोपित की जाती है वह निश्चित ही टूट जाती है। क्योंकि जबरदस्ती आरोपित नीति को निरन्तर सम्हाल कर रखना होता है—चौबीस घण्टे, क्योंकि एक क्षण भी छूटी, तो बिखर जायेगी, क्योंकि वह जबरदस्ती सम्हाली गयी है। विवेक से जाग्रत नहीं है। आत्मबोध से पैदा नहीं हुई है। समाज कहता है, लोग कहते हैं, शिक्षण संस्थाएं कहती हैं कि झूठ मत बोलो। इसलिए हम झूठ नहीं बोलते हैं। लेकिन झूठ उठता है। स्वयं के विवेक ने कहा नहीं कि सत्य बोलो, दूसरे ने सिखाया है इसलिए सत्य बोलते हैं। यह चेष्टित होगा, इसमें श्रम लगेगा और एक नियम समझ लें कि जिस बात में श्रम लगता है, उसको आप चौबीस घण्टे नहीं साध सकते। बहुत दिन नहीं साध सकते, क्योंकि श्रम के बाद विश्राम करना जरूरी है। कोई भी आदमी सतत् श्रम नहीं कर सकता है। श्रम के बाद विश्राम करना जरूरी है। तो जिसकी नीति श्रम से सधी हुई है, जब वह श्रम से थक जायेगा, तो विश्राम में अनीति आ जायेगी। जब वह विश्राम करेगा, तो अनीति प्रविष्ट हो जायेगी। स्मरण रख लें, श्रम निरन्तर नहीं किया जा सकता। एक सीमा आयेगी, जब कि आप थक जायेंगे और विश्राम करना पड़ेगा, जो कि बिल्कुल प्राकृतिक नियम है। और इसीलिए जब तथाकथित साधु

और संन्यासी सज्जन और महात्मा, जिनको हम सब भांति नैतिक पाते थे, एक दिन अचानक अनैतिक हो जाते हैं तो हमें बड़ी हैरानी होती हैं। हम कहते हैं, उनका पतन हो गया। पतन नहीं हुआ। श्रम से जिसको साधा था, कितनी देर साध सकते थे, एक सीमा आती है, श्रम थक जाता है और विश्राम करना पड़ता है। तो अगर श्रम से नीति सधी थी तो विश्राम में अनीति आ जायेगी। यह स्वाभाविक सहज नियम है। इसलिए मैं श्रम साध्य नीति के समर्थन में नहीं हूं, मैं सहज स्फूरित नीति के समर्थन में हूं, नीति जो अपने आप पैदा होनी चाहिए। एक तो वह प्रेम है कि लोग मुझसे कहते हैं कि मैं करूं, इसलिए करता हूं। लोग कहते हैं प्रेम करो, इसलिए मैं प्रेम करता हूं। क्या इस प्रेम की कोई कीमत हो सकती है? और एक वह प्रेम है, जो मेरे समग्र प्राणों से आविर्भूत होता है। जो मेरे प्राणों के प्राण से उठता है और फैलता है। तो एक तो वह नीति है जो ऊपर से थोप दी जाती है, और एक वह नीति है जो भीतर से निकलती है।

विवेक के पीछे नीति वैसे ही आती है, जैसे गाड़ी के पीछे चाक के निशान बनते हैं। इसलिए मैं आत्मनिरीक्षण पर जोर दे रहा हूं। आत्मनिरीक्षण क्रमशः मूर्च्छा को नष्ट करता है और विवेक को जागृत। उस दिशा में चेतना की गति हो, तो नीति आरोपित नहीं करनी होती है। वह भीतर से निकलनी शुरू हो जाती है, क्योंकि जिस भांति जानते हुए आग में हाथ डालना मुश्किल है, उसी भांति जानते हुए पाप करना असम्भव है। जिस भांति देखते हुए दीवाल में से निकलना कठिन है, उसी भांति। हां, अंधे व्यक्ति की अलग बात है, एक अन्धा आदमी निकलने की कोशिश करे, तो दीवाल से टकरा सकता है तो उससे हम कहेंगे कि दरवाजे को स्मरण रखो। कितनी बार कहा कि दरवाजा बांयी तरफ है, बांयीं तरफ जाओ। अन्धा सीख भी सकता है कि बायीं तरफ दरवाजा है, जा भी सकता है। फिर भी दरवाजा उसे दिखाई नहीं पड़ता है। उसकी दीवाल से टकराने की सम्भावना हमेशा है। और दूसरे मकानों और स्थितियों में तो निश्चित ही। सीखी बातें, सीखे मार्ग और सीखी हुई दृष्टियां नई स्थितियों में एकदम ही व्यर्थ हो जाती हैं। लेकिन जिस आदमी को दरवाजा दिखाई पड़ता हो, वह अगर दीवाल से टकरा जाय, तो कैसा आश्चर्य होगा? वैसे ही जिस मनुष्य का स्वयं विवेक जाग्रत हुआ हो, वह अनैतिक हो जाय तो उतना ही आश्चर्य होगा। आंख वाला जैसे दरवाजे से निकल जाता है, ऐसे ही भीतर की आंख खुल जाय तो मनुष्य नैतिक जीवन में प्रविष्ट होता है। अनीति अज्ञान है, और कुछ

भी नहीं। इसलिए नीति पर मैं जोर नहीं देता, ज्ञान पर जोर देता हूं। जो नीति पर जोर देते हैं वे किसी न किसी रूप में दमन, जबरदस्ती और आरोपण पर जोर देते हैं। अज्ञान में नैतिक होने का प्रयास वही कर सकता है, जो कहते हैं कि कुछ भी हो, तुम सत्य बोलो, कुछ भी हो तुम क्रोध मत करो, कुछ भी हो तुम शान्त रहो, कुछ भी हो तुम अहिंसा करो, ऐसा सिखाते हैं, वह आपके प्राणों को बड़े घेरे में बांध रहे हैं। वह आपकी आत्मा को मुक्त नहीं कर रहे है, वह आपकी आत्मा को जेलों में डाल रहे हैं और आपकी आत्मा तड़फ़ड़ाने लगेगी, इस तरह की कैद से घबड़ाने लगेगी। अज्ञान टूटना चाहिए, किंतु ऐसी शिक्षायें उस पर ध्यान ही नहीं देती हैं। वे तो ऊपर से नैतिक आचरण और अभिनय थोपने का आग्रह करती हैं। निश्चय ही अस्थायी रूप से समाज का इस भांति काम चल जाता है। लेकिन यह काम चलना ही है। ऐसे भ्रांत उपायों से एक वास्तविक नैतिक समाज का न जन्म हुआ है और न हो ही सकता है। मनुष्य जाति के हजारों साल का श्रम इसी भूल के आधार पर ही तो व्यर्थ गया है। और यह मौलिक भ्रांति आज भी प्रबल है। इस भूल के कारण ही जितने लोग नैतिक जीवन को जबरदस्ती थोप लेते हैं, उनके मन में चौबीस घंटे अनीति का रस बहता रहता है। ऊपर से उन्होंने सब ठीक कर लिया है, ऊपर से उन्होने सब सीख लिया है, और भीतर वे जानते हैं कि कुछ भी ठीक नहीं है और उनकी आत्मा मुक्त होने को भी तड़पड़ा रही है। उनके प्राण तड़प रहे हैं। और इस अशांति और तनाव में और इसकी प्रतिक्रिया में यदि उन्हें अनीति में ही मुक्ति दिखाई पड़ती हो, तो भी कोई आश्चर्य नहीं है। संसार भर में हो रहे अनैतिक और अराजक विस्फोट किस बात की खबरें हैं? इसीलिए समझ लीजिए, दुनिया में जितनी यह तथाकथित सभ्यता बढ़ रही है, उतने ही हम भीतर से असभ्य हो जाने को उत्सुक और तैयार होते जा रहे हैं। यह सभ्यता चूंकि थोथी नीति पर खड़ी हुई है, इसलिए सारी दुनिया में सभ्यता के विरोध में भी आन्दोलन चल रहे हैं। युवा पीढ़ी के उच्छृंखल विद्रोह और क्या हैं? वे थोथी नैतिकता की प्रतिक्रियायें ही हैं। उनका होना नहीं, वरन् उनके होने में इतना विलम्ब हुआ है, यही हैरानी की बात है। यह जो बढ़ रही अनैतिकता है, इसका जिम्मेवार कौन है? मैं कहता हूं: वही शिक्षा और वे ही शिक्षक, जो नीति को बाह्यावरण मानते रहे हैं और लोगों को ऊपर से नैतिक आरोपण करने के उपदेश देते रहे हैं। ऐसी झूठी संस्कृति ही इस सब उच्छृंल और अराजक स्थिति के लिए मूलतः दोषी है। असल में ऐसी शिक्षायें

नहीं जानती हैं, बिल्कुल नहीं जानती हैं कि नैतिक जीवन का उदय कैसा होता है। यह अज्ञान घातक सिद्ध हुआ है। जो जानते हैं, वह नीति पर नहीं, बोध पर, विवेक पर, आत्मनिरीक्षण पर जोर देते हैं। आपको अपना बोध आ जाय, फिर आप अपने ही अहित में कुछ भी नहीं कर सकेंगे। क्योंकि अनीति किसी और का अहित नहीं, आपका ही अहित है। जब भी मैं क्रोध करता हूं, जब मैं झूठ बोलता हूं, जब मैं पाप करता हूं या चोरी करता हूं या कुछ और करता हूं, जिसको हम अनीति कहते हैं, तब मैं किसी और का नहीं अपना ही नुकसान करता हूं। अगर यह दिखायी पड़ जाय अगर यह दिखाई पड़ने लग जाय तो फिर कौन है ऐसा जो यह नुकसान करने को राजी होगा? स्वयं के पैर को ही कुल्हाड़ी मारने को कौन कब राजी होता है?

एक बार एक गांव से बुद्ध निकलते थे। कुछ लोगों ने उन्हें घेरा, अपमान किया, गालियां दी। बुद्ध ने कहा मुझे दूसरे गांव जल्दी पहुंचना है यदि तुम्हारी बातचीत पूरी हो गई हो तो, मैं जाऊं। उन लोगों ने कहा कि यह बातचीत नहीं है, हमने गालियां दी हैं, अपमान किया है। बुद्ध ने कहा, तुमने दी होंगी गालियां और अपमान किया होगा। मैंने उन सबका लेना बन्द कर दिया है। तुमने दी होगीं। मैंने लेना बन्द कर दिया है। तो अब तुम इन सारी गालियों को बापस ले जाओ, क्योंकि पिछले गांव में भी लोग आये थे और फूल लाये थे, मालाएं लाए थे, फल लाये थे और मिष्ठान्न लाये थे। और मैंने उनसे कहा, मेरा पेट भरा है तो वह अपनी थालियों को बापस ले गये। तुम क्या करोगे? तुम जो गालियां लाये हो, अपमान लाये हो, तुम क्या करोगे? तुम भी अपनी गालियां वापस ले जाओ। मैंने लेना बन्द कर लिया है। न मैं लेता हूं, न मैं देता हूं। क्योंकि मैंने देख लिया है कि उनके लेने देने में सिवाय अहित के और कुछ नहीं है। अगर भीतर यह स्मरण आ जाय, यह बात दिखाई पड़ने लगे कि अहित कहां है और आत्म हित कहां है, तो अनीति असम्भव हो जाएगी। इस बात को समझें कि समाज का जोर है कि नैतिक हों आप, क्योंकि समाज समझता है कि अनैतिक होने में दूसरों का नुकसान है। समाज का जोर है कि आप नैतिक हों, क्योंकि समाज समझता है कि अगर आप अनतिक हुए, तो दूसरों का नुकसान होगा। लेकिन————————धर्म कहता है कि आप विवेक-पूर्ण हों और विवेकपूर्ण होने से नैतिक हो जाएंगे और धर्म यह भी कहता है कि अगर आप अनैतिक हुए तो नुकसान आपका होगा। इसमें फर्क है—सामाजिक नैतिकता में और धार्मिक नैतिकता में बुनियादी फर्क है। सामाजिक नैतिकता दूसरों

का अहित न हो जाय, इसका ख्याल करती है। वह यह कहती है कि चोरी मत करो। क्योंकि जिनकी तुम चोरी करोगे, उनको नुकसान पहुंच जायेगा, धर्म कहता है अगर तुम्हें दिख जाय तो तुम समझोगे कि चोरी कैसे करूं, क्योंकि चोरी करूंगा, नुकसान मुझे पहुंचेगा। यही बुनियादी फर्क है। और जब तक यह दिखोई न पड़े कि नुकसान आपको पहुंच रहा है, तब तक चोरी रोकी नहीं जा सकती। और वह रुकी भी रही तो, भी मनुष्य नैतिक नहीं होता है। धार्मिक हुए बिना नैतिक होने का वस्तुतः कोई उपाय ही नहीं हैं। धार्मिक चेतना ही नैतिक हो सकती है। नीति धर्म का फल है। इसलिए मैं नीति पर जोर नही देता हूं क्योंकि मैं समझता हूं कि नीति जोर देने की बात ही नहीं है। जोर देने की बात तो धर्म है, विवेक है। आचरण और व्यवहार बहुत जोर देने की बात नहीं है। क्योंकि वे मूल नहीं हैं। व्यक्तित्व की आत्मा उनमें नहीं है। जो शरीरवादी हैं, वे ही उनपर अतिबल दे सकते हैं। और जब तथाकथित धार्मिक नेता भी उनपर बल देते हैं तो बहुत आश्चर्य होता है। जैसे मैं आपको कहूं कि बीज बो दें और पौधे को सम्हालें, आप कहेंगे कि फूलों की बात ही नहीं करते हैं, पौधे की बात करते हैं फूल की बात ही नहीं करते। तो मैं आपसे कहूंगा कि फूल की फिक्र छोडें, बीज बोयें, पानी दें, पौधों की फिक्र करें, – फूल आयेंगे, फूल तो अनिवार्यत : आयेंगे, जो व्यक्ति विवेक को सम्हालता है, नीति के फूल अनिवार्यतः आ जाते हैं। उसे उनकी फिक्र करने की कोई भी जरूरत नहीं है। और यदि आपने फूलों की फिक्र की, और बीजों को भूल गये, पौधों को भूल गये, जड़ों को भूल गये, तो स्मरण रखें कि अगर आपके हाथ में फूल हुए भी तो कागज के होंगे, वे असली फूल नहीं हो सकते हैं, क्योंकि असली फूल भी फूल की फिक्र से नहीं आते हैं, वे तो किसी और चीज की फिक्र से आते हैं।

माओत्से ने अपने बचपन का एक संस्मरण कहा है :– एक छोटी सी किन्तु बड़ी मीठी और अर्थपूर्ण बात कही है। कहा है कि जब मैं छोटा था, एक छोटे गांव में रहता था। मेरी मां का एक बगीचा था। एक दिन मेरी मां बीमार पड़ गयी। मैंने उससे कहा घबड़ाओ मत। वह बगीचे के लिए बड़ी चिन्तित थी कि फूलों का क्या होगा, पौधों का क्या होगा। मैंने उससे कहा घबड़ाओ मत, मैं फिक्र कर लूंगा। पन्द्रह दिन बाद जब उसकी मां उठी, तो उसने देखा कि बगीचा तो बिल्कुल सूख गया है, फूलों का तो कोई पता नहीं है। पौधे भी आधे मर गये हैं। उसने माओ को बुलाया और कहा कि तुम तो दिन भर बगीचे में रहते थे, क्या किया ? यह सब पौधे मर गये, ये तो

फूल सब नष्ट हो गये। माओ रोने लगा। उसने कहा-मैंने तो बड़ी फिक्र की। मैं तो एक एक फूल को प्रेम करता था, एक एक फूल को पानी देता था। एक एक फूल को झाड़ता था कि धूल न लग जाय। न मालूम क्या हुआ, बस पोधे सूखने लग गये और फूल मरने लग गये। उसकी मां ने कहा– "नासमझ, फूलों के प्राण फूलों में नहीं होते, फूलों के प्राण जड़ों में होते हैं। फूलों की फिक्र जिसे करनी हो, उसे फूलों की फिक्र बिल्कुल नहीं करनी चाहिए, फिक्र करनी चाहिए जड़ों की। अगर जड़ें सम्हल जायं, तो सब सम्हल जाता है। अगर जड़ें मिट जायं, तो सब मिट जाता है।" मैं भी यही कहता हूं। जीवन की बगिया के लिए भी मैं यही कहता हूं। जीवन में भी जो महत्वपूर्ण हैं, जो भी फूल की तरह महत्वपूर्ण है, स्मरण रखना उसके प्राण भी उसमें नहीं होते, गहरे कहीं जड़ों में होते हैं, तो दिखायी नहीं पड़ती हैं। नीति के फूल, अहिंसा, प्रेम, अपरिग्रह, अचौर्य, ब्रह्मचर्य-ये सबके सब फूल हैं, जो बड़े सुन्दर हैं, लेकिन इनके प्राण इनमें नहीं हैं। इनके प्राण उन जडों में हैं, जो भीतर छिपी हैं। वे जड़ें विवेक की हैं, वे जड़ें आत्मबोध की है, वे जड़ें ध्यान की हैं, वे जड़ें धर्म की हैं। उनपर मेरा जोर है, फूल अपने से आ जाते हैं। इसलिए नीति पर बिल्कुल ही मेरा जोर नहीं और जिनका है, उन्हें मैं समझता हूं कि वे गलती में हैं। उनसे जो कुछ भी पैदा होंगे वह कागज के फूल होंगे, असली नहीं होंगे। और मैं चाहता हूं, तो असली फूल ही चाहता हूं।

—☆☆—

तीसरा प्रश्न है :– संसार को त्याग कर संसार के प्रति अलिप्त होकर साधना करना, यह केवल क्या व्यक्ति का स्वार्थ नहीं? सभी के कल्याण का मार्ग देखकर, कर्तव्य की बाजी लगाकर सभी के साथ अपना कल्याण प्राप्त करने की भावना क्या योग्य नहीं है? साधना की बजाय क्या सेवा में ही परोपकार और धर्म नहीं है?

ठीक पूछा है। हम सभी के मनों में यह बात उठती है कि क्या जो अपनी ही आत्म साधना में लगे हैं, वह स्वार्थ में नहीं लगे हैं? क्या उचित न हो कि सबके कल्याण के काम में लगें, सेवा में लगें, सहयोग में लगें, जीवन विकसित हो, ऐसे कामों में लगें। अकेले में, एकान्त में बैठकर वे जो कुछ कर रहे हों, अगर उसमें आनन्द और शान्ति भी मिलती है तो भी यह निपट स्वार्थ मालूम होता है। यह प्रश्न स्वाभाविक है। सबके मनों में उठेगा। लेकिन मैं आपको

कहूं कि अगर आपके भीतर का दिया न जल रहा हो, तो आप दूसरों का दिया कैसे जला सकते हैं ? क्या आपको पता है कि अगर आपके भीतर शान्ति न हो, तो आप दूसरों के लिए मंगलदायी हो सकते हैं ? क्या आपको पता है कि अगर आपके भीतर प्रेम न हो, तो आप सेवा कर सकते हैं ? जो आपके भीतर नहीं है, उसे देने की सामर्थ्य आप में कैसे हो सकती है और जो आपके भीतर नहीं है, उसे आप कैसे बांट सकते हैं ? इसलिए स्मरण रखें कि आत्म साधना अगर स्वार्थ की तरह मालूम भी होती हो, तो भी आत्म साधना ही एकमात्र परार्थ और परोपकार है। क्योंकि उसके बाद ही, केवल उसके बाद ही कोई व्यक्ति दूसरों की सेवा कर सकता है। अन्यथा उसके अभाव में सेवा केवल दम्भ होगी, अहंकार होगा। सेवा झूठी होगी, पीछे कोई और मतलब और अर्थ होगे। और जो खुद ही शान्त नहीं है, वह दूसरों को शान्त करने निकल पड़े, और जिसके जीवन में खुद ही मंगल की वर्षा नहीं है, वह दूसरों के कल्याण की बात सोचने लगे, यह सब धोखा है, आत्म प्रवंचना है। अपने भीतर जो अंधेरा है, उसको भुलाने के ही ये सब उपाय हैं। यह तो ध्यान में रहे ही है कि इसके पूर्व कि आप किसी के लिए कुछ काम के हों, आपको अपने लिए काम का होना चाहिए। इसके पहले कि आपका जीवन किसी के लिए भी कल्याणकारी हो सके, आप का जीवन आपके लिए तो कल्याणकारी हो ही हैं जाना चाहिए, धर्म स्वार्थ को और परार्थ को विरोध में नहीं देखता है। जो ठीक ठीक स्वार्थ है, वही ठीक परार्थ भी है। मैं तो ऐसे ही देखता हूं। अगर आप ठीकठीक अपने स्वार्थ को सिद्ध कर लें, तो आपके जीवन से ज्यादा परोपकार और कुछ नहीं होगा। क्यों ? क्योंकि जो आपके अत्यन्तिक रूप से स्वार्थ में है, वह किसी के भी स्वार्थ के विरोध में नहीं हो सकता। और स्मरण रखें, आपके भीतर जो भी दूसरों के विरोध में है, आज नहीं तो कल पता चलेगा कि वह आपका भी स्वार्थ नहीं था। ऐसी भूल में व्यक्ति स्वयं को ही हानि पहुंचाता है। दूसरों को पहुचायी गयी हानि अंततः स्वयं को ही पहुंचायी हानि सिद्ध होती है। यदि आपको दिखता है कि जो दूसरों का स्वार्थ है, वह मेरा नहीं, तो आप समझ लेना कि अभी आपको पता भी नहीं कि आपका स्वार्थ क्या है ? आपको पता भी नहीं कि मेरा हित क्या है ? क्योंकि जो मेरा हित है, वह इस जगत में प्रत्येक प्राणी का ही हित होना चाहिए। क्योंकि सबों के भीतर एक सी आत्मा, एक सी चेतना, एक सी कामना, एक-सी आकांक्षाओं का वास है। सारे लोग दुश्मन को तरह जमीन पर नहीं खड़े हैं, वरन् वे सब बिल्कुल एक

ही नियम की अभिव्यक्ति हैं। इन सबके भीतर एक से नियम हैं। क्या एक से नियम हैं? यदि हम थोड़ा समझने का प्रयास करें तो निश्चय ही वे नियम दिखायी देने शुरू हो जावेंगे। जीवन जो मुझमें है, वही तो सब में है। इसलिए जो जीवन के हित में है, वह सबका ही हित हो सकता है। लेकिन हम तो जीवन को जानते ही नहीं है। जीवन को जानने में मेरा यह "मैं" ही बाधा बन जाता है। इस मैं के कारण ही स्वार्थ और परार्थ का भेद पैदा होता है। फिर यह "मैं" ही सेवा करे, परहित के कार्य करे तो क्या होगा? धोखा ही न? दूसरों को नहीं, स्वयं को ही इस भांति धोखा होता है। साधना का अर्थ है: मैं को खोना और उसे जानना जो कि जीवन है। उसे जानते ही सब स्वार्थ–परार्थ गिर जाते हैं। फिर तो जो भी है, वह सेवा है। ऐसी सेवा करनी नहीं होती है, वह तो होती है। वह तो वैसे ही होती है, जैसे हृदय धड़कता है और स्वासें चलती हैं।

मनुष्य में थोड़ी भी समझ हो, तो जीवन अपने सब रहस्य खोल देता है। एक व्यक्ति मेरा अपमान करता है और मैं दुखी होता हूं, तो क्या मेरी समझ यह नहीं देख सकती है कि दूसरों के हृदय में भी मेरा अपमान यही करता होगा? नियम तो एक ही है। और उस पर ही नियम के एक छोर पर मैं हूं और दूसरे पर दूसरा है। मुझे कोई प्रेम करे तो अच्छा लगता है और घृणा करे तो बुरा लगता है, तो मैं जानता हूं कि इस जमीन पर ऐसा प्राणी खोजना कठिन है, जिसे घृणा किया जाना अच्छा लगता हो और प्रेम किया जाना बुरा लगता हो। सारे लोगों के भीतर एकसी चेतनाएं ही हैं और उनके एक–से नियम हैं और उनकी एक–सी आकांक्षाएं हैं, इसलिए अत्यन्तिक रूप से जो मेरा हित है वह आपका अहित कैसे हो सकता है? यह मेरा हित है कि सारे लोग मुझे प्रेम करें और जब यह मेरा हित है कि सारे लोग मुझे प्रेम करें, तो मैं समझ गया कि यह आपका हित है कि सारे लोग आपको भी प्रेम करें। और यह भी मुझे जानना चाहिए कि अगर मैं खुद प्रेम देने को राजी नहीं हूं तो मैं प्रेम पाने का हक भी तो खो दूंगा। अगर मेरा यह हित है कि प्रेम मेरे पास आए तो मेरा यह कर्तव्य हो गया है कि प्रेम मुझसे जाय। जो मेरा हित है, वही मेरा कर्तव्य भी है। अगर यह मेरा हित है कि सेवा मुझे मिले, तो यह मेरा कर्तव्य हो गया कि सेवा मैं दूं। लेकिन यह बोध भी तभी होगा, जब भीतर विवेक जाग्रत हो और मुझे अपने हित की पहचान हो जाय। दुनिया में अधिक लोग जिन्हें अपना दुश्मन समझते हैं, वे उनके बिल्कुल दुश्मन नहीं हैं। अधिक लोग

जितने अपने दुश्मन हैं, उतना उनका कोई दुश्मन नहीं। यह मैं आपसे भी कहता हूं कि यदि आप लेखा-जोखा करेंगे अपनी जिन्दगी का तो जिन्दगी में जितना नुकसान आपने अपने को पहुंचाया है, उतना कोई दूसरा नहीं पहुंचा सकता। अगर हरएक आदमी अपना स्वार्थ साध ले, तो अपने को नुकसान नहीं पहुंचा सकेगा। और बड़े मजे की बात यह है कि जो अपने को नुकसान नहीं पहुंचा सकेगा, वह केवल अपने को नुकसान से बचाने के लिए ही किसी को भी नुकसान पहुचाने में असमर्थ हो जाता है। मैं अपना हित साध लूं, तो मैं सबकी सेवा में तत्पर हो जाऊं। इसलिए स्वार्थ को और परार्थ को मैं विरोध में नहीं देखता हूं। साधना को और सेवा को मैं विरोध में नहीं देखता। साधना ही सेवा का आधार है। तो यह मत सोचें कि आप स्वयं के जानने की साधना में लगे हैं, तो स्वार्थ साध रहे हैं। यह मत सोचें कि आप अपनी आत्मा की शांति खोज रहे हैं, तो स्वार्थी हैं। आप अपने भीतर शान्त हो जायें, आनन्द से भर जायें, प्रेम से भर जायें, इससे बड़ा और कोई परोपकार नहीं है। आपका अशांत होना, दुखी होना, घृणा से भरा होना और मूलतः अज्ञान में होना ही आपका अहित तो है ही. और सबका भी अमंगल है। जैसे ही व्यक्ति आत्मज्ञान से भरता है, वैसे ही दो घटनाएं उसके जीवन में घटती हैं। पहली कि वह किसी का भी अहित करने में असमर्थ हो जाता है और दूसरी कि वह सेवा देने के लिए विवश हो उठता है। वह अनायास ही सेवा से भर उठता है। यही उसका आनन्द हो जाता है। उसका जीवन दूसरों के पथ पर फूल बन जाता है। कांटे स्वयं में थे। इसलिए वह कांटों की भांति था। जब 'स्व' में फूल खिलते हैं, तो वह सहज ही सबके लिए फूल हो जाता है। आनन्द मिलते ही बंटने लगता है। एक आंतरिक विवशता उसे चहुं ओर बिरने लगती है। उसे बांटना ही पड़ता है। क्योंकि जो दूसरों को उसे जितना बांटता है उससे कई गुना उसको वापस उपलब्ध हो जाता है। और जो आनन्द के संबंध में सत्य है, वही दुख के संबंध से भी सत्य है। जो, जो बांटता है वही उसे वापस उपलब्ध हो जाता है। यदि मैं अपने चारों तरफ घृणा बांटता हूं, तो वह सारी घृणा अनेक अनेक लोगों में प्रतिबिम्बित, प्रतिध्वनित और प्रतिफलित होकर मुझपर ही अनेक गुना ही वापस लौट आती है और अगर मैं प्रेम बांटता हूं, तो प्रेम वापस लौट आता है। और इसलिए आत्म साधना सर्व सेवा के विरोध में नहीं है। और स्वयं को जानना सर्व की सेवा के लिए न केवल विरोध में ही नहीं है, वरन् वही केवल हित में है। उसके अभाव में शेष सारी बातें न तो हित की हैं न अर्थ की।

और न ही वे सत्य हैं। वे व्यर्थ, अहंकारपूर्ण और अज्ञान से भरी बातें हैं।

एक व्यक्ति ने बुद्ध को जाकर कुछ ऐसी ही बात कही थी। उसने उनके पैर छुए और उनसे कहा : "प्रभु मैं आपकी बातों से प्रभावित हुआ हूं। अब मुझे बताइए कि मैं दुनिया के लिए क्या करूं ?" बुद्ध चुपचाप खड़े रह गए। उनके पास जो भिक्षुक थे, वे बहुत हैरान हुए। कभी उन्होने बुद्ध को इस भांति चुपचाप खड़े रहते नहीं देखा था। उस आदमी ने दोबारा पूछा कि आप क्या सोच रहे हैं, मुझे आज्ञा दें। मैं दुनिया के लिए क्या करूँ ? बुद्ध ने कहा : "मेरे मित्र, मैं तुमसे हैरान हूं कि मेरी बातें तुम्हें पसन्द आयीं लेकिन तुमने मुझसे यह नहीं पूछा कि मैं अपने लिए क्या करूं ? तुम पूछते हो दुनिया के लिए क्या करूं ? तुम अपने को धोखा दे रहे हो। कहीं तुम दुनिया के लिए करने की बातों में खुद के लिए कुछ करने से तो नहीं बचना चाहते हो ? नहीं मित्र, अच्छा हो कि तुम स्वयं के लिए ही कुछ करो।" ऐसी ही स्थिति बहुतों के साथ हैं। और यही वजह है कि जो उपदेश हम दूसरों को देते हैं, उन उपदेशों को हम खुद भी नहीं मानते। और यही वजह है कि जिन बातों की हम दूसरों में आलोचना करते हैं, उनमें हम अपने को कभी नहीं गिनते और यही वजह है कि जिन बातों की हम प्रशंसा करते हैं, उनको भी स्वयं में पैदा करने का कभी ख्याल नहीं करते। सब कुछ दूसरों में पैदा होना चाहिए। दुनिया में अज्ञान के समर्थन में इससे ज्यादा और कोई बात नहीं है, जितनी दूसरों का सुधार, दूसरों का कल्याण, दूसरों का मंगल करने की कामना। वह आदमी कितना पागल है, जिसने खुद का मंगल नहीं साधा हो और दूसरों के मंगल का विचार कर रहा हो। धोखेबाज है वह। और दूसरों को धोखा देना उतना महंगा नहीं जितना खुद को धोखा देना महंगा पड़ जाता है, क्योंकि अनीति में दूसरों को दिये गये धोखे बहुत छोटे साबित होते हैं, उस धोखे के मुकाबले जो कि व्यक्ति स्वयं को ही दे सकता है। अपने को दिया गया धोखा सबसे बड़ा धोखा साबित होता है, क्योंकि उसमें पूरा जीवन दाव पर लगाकर खो जाता है। तो मैं आपको कहूंगा कि स्वार्थी हो जायें, मैं आपको कहूंगा कि निपट स्वार्थी हो जायें, मैं आपको कहूंगा कि अपने हित के अतिरिक्त कुछ भी न सोचें। दुनिया को एक कोने में रख दें और सबसे पहले अपने हित ही सोच लें। इतना मैं जरूर आपको आश्वासन दिलाना चाहता हूं कि जिस दिन आप अपना हित पहचान लेंगे और अपना हित साध लेंगे, इस दुनिया में आपका हित फिर किसी के हित के विरोध में नहीं पड़ेगा, वरन् आपका पूरा का पूरा जीवन ही

दूसरों के हित में, दूसरों के कल्याण में आधार बन जायगा। धन्य हैं वे लोग, जो कि स्वयं आलोक बन जाते हैं, क्योंकि फिर उनका जीवन दूसरों के–अंधकाराच्छन्न पथों को भी आलोकित करता है।

चौथा प्रश्न है :– महावीर, बुद्ध, राम, कृष्ण, ऐसे बड़े बड़े महा पुरुष हुए, उन्होंने सत्य को खोजा, लेकिन फिर भी दुनिया में इतना असत्य क्यों है ?

इसका एक ही कारण है कि सत्य कोई एक व्यक्ति दूसरे को दे नहीं सकता। स्वयं जिसे उपलब्ध होता है वह उसके साथ ही चला जाता है। वह आत्मोपलब्धि जो है। बुद्ध को मिलेगा, बुद्ध के साथ विलीन हो जायेगा। उसे बांटा नहीं जा सकता। वह दूसरे आदमी को दिया नहीं जा सकता कि मैं मर रहा हूं, तो लो अब इस सम्पत्ति को तुम संभालो। उसकी कोई वसीयत नहीं हो सकती है। सत्य की कोई वसीयत नहीं होती। वह हस्तांतरित नहीं होता है ! इसलिए, उसे पाने, देने, चुराने, मांगने, या खो देने का कोई भी उपाय नहीं है। इसलिए यह भी हो सकता है कि यदि एक पीढ़ी के सभी लोगों को भी सत्य उपलब्ध हो जाय तो भी उनके बाद की पीढ़ी को वहीं से शुरू करना होगा, जहां से उन्होने शुरू किया था। बीती पीढ़ी के कंधों पर, इस संबंध में खड़ा नहीं हुआ जा सकता। सत्य की यात्रा की कोई परंपरा नहीं है। वह तो प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ही पहल से प्रारंभ करनी होती है। धर्म इसीलिए न तो परंपरा में है, न संप्रदायों में, न संगठनों में। धर्म तो अत्यंत वैयक्तिक है। वह तो प्रेम की भांति है। इसलिए तो सत्य और सौन्दर्य और प्रेम कभी पुराने नहीं पड़ते हैं। वे तो नित नूतन हैं। वे तो सनातन होते हुए भी इसलिए ही चिरनवीन हैं। और उन्हें पाने का आनन्द भी यही है कि वे कभी बासी नहीं होते हैं। व्यक्ति जब भी उन्हें पाता है, तभी वे मौलिक हैं। और उन्हें पाकर वह किसी को दुहराता नहीं है। सत्य को पाने की घटना कभी भी पुनरुक्ति नहीं है। वह सदा ही अभिनव है। इसलिए ही सत्य वसीयत नहीं है। न वेदोंकी, न उपनिषदों की, न कुरान की, न बाइबल की। वह किसी की भी पुनरुक्ति नहीं है। न बुद्ध की महावीर की, न कृष्ण की, न क्राइस्ट की। वह तो सदा ही मौलिक आविष्कार है। उसका ही जो कि उसे पाता है।

———

प्रेम के पंख

(जबलपुर में प्रवचन)

संकलनः श्री अरविंद

सत्य को या परमात्मा को जानना कोई बौद्धिक ऊहापोह, कोई विचार मात्र करने की बात नहीं है, वरन् वे ही व्यक्ति सत्य से परिचित हो पाते हैं, जो अपने भीतर सत्य को ग्रहण करने की क्षमता, पात्रता या ग्राहकता पैदा कर लेते हैं। हम केवल उतने ही अर्थों में जानते हैं, जितनी जानने की क्षमता हममें पैदा होती है और इसलिए स्मरण रखें कि जो हमारा ज्ञान है, वही सत्य की सीमा कभी भी नहीं है। हमारे ज्ञान से सत्य हमेशा बड़ा है। क्यों? क्योंकि जितना हम जानते हैं, उससे बहुत ज्यादा जानने को सदा शेष है। जो हमारा ज्ञान है, वही सत्य नहीं हैं। सत्य हमारे ज्ञान से सदा बड़ा है। क्यों? क्यों कि हमारी जानने की क्षमता पूर्ण नहीं है। वह मनुष्य जो अपने ज्ञान को ही सत्य की सीमा समझ लेता है, रुक जाता है, ठहर जाता है। संसार में भी जो हम जानते हैं, वह हमारी इन्द्रियों के द्वारा सीमित है। यदि किसी व्यक्ति के पास आंख न हो, तो उसे इस जगत में प्रकाश जैसी कोई भी चीज नहीं होगी। अगर एक ऐसा समाज हो अंधों का, जहां किसी के पास आंख न हो, तो उस समाज के भीतर प्रकाश के सम्बन्ध में कोई धारणा नहीं होगी। प्रकाश तो दूर, वे अंधकार को भी नहीं जानेंगे, क्योंकि उसे जानने के लिए भी आंख का होना और प्रकाश का अनुभव जरूरी है। और यदि हमारे पास कान न हों, तो फिर हमारे लिए ध्वनि नहीं हैं। वस्तुतः केवल उसकी सत्ता ही हमारे समक्ष अना-

वरित होती है, जिसकी ग्राहकता हममें है। हमारे संसारकी सीमा वही है, जो कि हमारी ग्रहण सीमा है। लेकिन संसार उतना ही नहीं है। हमारे संसार की और संसार की सीमायें एक ही नहीं है। हमारा संसार हमसे ही सीमित है। इस भांति एक ही संसार में बहुत से संसार हैं। जितने प्राणी – जातियां हैं, उतने ही संसार हैं। और सूक्ष्मता से देखें तो जितने व्यक्ति हैं, उतने ही संसार हैं। ऐसे एक ही संसार में अनंत संसार हैं, क्योंकि अनंत जानने देखने और अनुभव करने वाले हैं। जितनी अस्मितायें हैं, संसार उतने ही काल्पनिक खंडों में विभाजित है। मनुष्य से पीछे बहुत से पशु हैं, जिनकी इन्द्रियां मनुष्य से कम हैं। किन्हीं नीचे की विकास की सीढ़ियों पर किन्हीं प्राणियों के पास आंखें नहीं हैं, किन्हीं प्राणियों के पास कान नहीं हैं। किन्ही प्राणियों के पास स्वाद या गन्ध नहीं है। वे प्राणी उस तल पर प्रकाश या ध्वनियों या गंधों की सत्ता का बोध भी नहीं कर पाते हैं। एसे ही मनुष्य के पास जितनी इन्द्रियां हैं, उतना उसके जगत का ज्ञान है और यह अज्ञान होगा कि उतनी ही जानकारी को हम संसार की सीमा समझ लें। यदि और इन्द्रियां हों, तो संसार का सीमा विस्तार और बड़ा हो जायेगा। वैज्ञानिक उपकरणों से यह हुआ भी है। यह मैं इसलिए कह रहा हूं कि ताकि यह समझ में आ सके कि हम उतना ही जानते हैं, जितने की जानने की हम अपने में क्षमता पैदा कर लेते हैं। हमारा जानना हमारी क्षमता पर निर्भर है। और जो दृश्य संसार के संबंध में सत्य है, वही अदृश्य सत्ता के संबंध में भी सत्य है। लोग जब भी मुझसे पूछते हैं ईश्वर है, आत्मा है ? तब मैं उनसे यही पूछता हूं :– क्या आत्मा व ईश्वर को अनुभव करने की क्षमता आपके भीतर है ? क्योंकि प्रश्न हमेशा क्षमता का है, प्रश्न ईश्वर के होने या न होने का नहीं है। यदि आपके भीतर क्षमता है, तो आप उन सत्यों को अनुभव कर पायेंगे जो अभी आपको अनुभव नहीं होते और यदि क्षमता नहीं है, तो वे सत्य असत्य ही प्रतीत होंगे। और किसी भय से यदि उन्हें स्वीकार भी कर लिया जावे, तो भी वे सत्य नहीं बन सकते हैं। सत्य तो बस वही सत्य बनता है, जो अनुभव बन जाता है।

एक व्यक्ति ने पच्चीस सौ वर्ष पहले एक गांव में बुद्ध के चरण पकड़े थे और उनसे कहा था कि मैं सत्य को जानने आया हूं। क्या आपकी दृष्टि है, क्या आपकी धारणा है ? बुद्ध ने कहा – "मेरी जो धारणा होगी, वह तुम्हारे लिए व्यर्थ होगी, क्योंकि सत्य को देखने की जो आंख है, वह तुम्हारे पास नहीं है। मैं जो भी कहूंगा वह असत्य मालूम होगा। क्योंकि जिसे तुम अनुभव नहीं कर

सकते हो, उसकी सत्यता को तुम कैसे जान सकते हो ? और बुद्ध ने उससे यह भी कहा था कि मैं एक गांव मे गया था, वहाँ कुछ लोग मेरे पास एक अन्धे को लाये थे। उन्होंने मुझसे कहा कि इसे समझा दें कि प्रकाश है। तो मैंने उन लोगों को कहा कि यह पागलपन की बात है। जिसके पास आंख नहीं, उसे कैसे समझाऊंगा कि प्रकाश है ? तो मैंने उन लोगों को कहा कि इसे मेरे पास मत लाओ। इसे किसी चिकित्सक के पास ले जाओ, किसी वैद्य के पास ले जाओ, इसकी आंख ठीक करवाओ। प्रकाश के सम्बन्ध में समझाना व्यर्थ बात है। आंख ठीक होनी चाहिए। आंख है तो प्रकाश है। और यही मैं आपसे भी कहता हूं। इसकी फिक्र छोड़ दो कि सत्य क्या है, इसकी फिक्र करो कि क्या आपके पास वह आंख है, जो कि पदार्थ के पार देखने में समर्थ हो जाय। हम जो भी देख रहे हैं, पदार्थ है। पदार्थ के अतिरिक्त जो भी है, वह हमारी अनुभूति के बाहर पड़ जाता है। उसकी सम्वेदना, उसकी तरंगें हमें स्पर्श नहीं कर पातीं। जब आप किसी मित्र को मिलते हैं तब भी आप केवल उसकी देह से मिल पाते हैं। उसकी आत्मा से आपका कोई मिलन नहीं हो पाता। जब आप बाहर दरख्तों को देखते हैं, तब भी आप दरख्तों की देह से मिल पाते हैं, उनकी आत्मा से आपका कोई मिलन नहीं हो पाता। क्यों, क्योंकि जिसका उसे भी अपनी आत्मा से मिलन नहीं हुआ है और जिसने अपने भीतर चैतन्य की ऊर्जा को अनुभव नहीं किया है, वह इस जगत में—व्याप्त चेतना को कैसे अनुभव कर सकेगा? प्रश्न ईश्वर का, सत्य का और प्रकाश का नहीं है, प्रश्न सदा आंख का है और इसलिए धर्म विचार न होकर मेरी दृष्टि में उपचार है। धर्म कोई वैचारिक बात न होकर उपचार है। यदि हम अपने भीतर की कुछ ऐसी सम्वेदनशीलताओं को सक्रिय कर सकें जो कि हमारे भीतर सोयी हुई, पड़ी हैं तो हमारे भीतर अनुभूति के नये नये क्षितिज खुलते जायेंगे, और हम कुछ जानेंगे जिसे जाने बिना जीवन में न तो कोई अर्थ होता है, न अभिप्राय होता है, न आनन्द होता है। जितनी सूक्ष्मतर सम्वेदना होती जायगी आपकी जितनी गहरी ग्राहकता होती जायगी, उतना ही जगत में स्थूल विलीन होता जायगा और सूक्ष्म के दर्शन होने लगेंगे। एक घड़ी आती है, जब यह सारा जगत पदार्थ नहीं, परमात्मा दिखायी पड़ने लगता है। लेकिन उसके लिए स्वयं को तैयार करना होगा। जैसे कोई किसान खेत को तैयार करता है बीज बोने के पहले, वैसे ही जिसे परमात्मा की ओर उन्मुख होना है उसे अपने भूमि को तैयार करना होगा, उसे अपने भीतर संगीत को पैदा करना होगा। तभी वह बाहर

जो संगीत व्याप्त है उसका अनुभव कर सकेगा। सूरज दिखायी पड़ता है क्योंकि हमारे पास आंख है, सूरज हमें प्रभावित कर सकता है, क्योंकि सूर्य को ग्रहण करने के लिए हमारे पास एक इन्द्रिय और क्षमता है। मैं बोलता हूं, मेरी ध्वनि आपके भीतर जाकर प्रतिध्वनित हो जाती है, क्योंकि आपके पास एक ग्राहक इन्द्रिय है जो उस ध्वनि को आपके पास पहुंचा देती है, परमात्मा चौबीस घंटे प्रतिक्षण चारों ओर खड़ा हुआ है। हमारी हर स्वांस उसकी है, हर अंग उसका है, लेकिन उसका हमें बोध नहीं होता है, क्योंकि उसे हम तक पहुंचाने का द्वार हम अपने हाथों बन्द किये हुए हैं। इस द्वार को खोलने के तीन सूत्र, मैं आज आपसे चर्चा कर रहा हूं कि कैसे आपके भीतर वह सम्वेदना शक्ति पैदा होगी, जिसके माध्यम से स्थूल विलीन हो जाता है और सूक्ष्म के दर्शन होने शुरू हो जाते हैं। पदार्थ विलीन हो जाता है और परमात्मा दृश्य हो उठता है। दृश्य से अदृश्य, स्थूलसे सूक्ष्म, पदार्थ से परमात्मा की ओर ले जाने वाले तीन सूत्र हैं। पहला सूत्र है हम अपने से प्रेम करें। व्यक्ति स्वयं से प्रेम करे। यह प्रेम अबाध और बेशर्त हो। क्योंकि जो स्वयं से ही प्रेम नहीं करता, वह किसी से भी प्रेम नहीं कर पाता है और प्रेम के अभाव में पदार्थ का अतिक्रमण असंभव है। प्रेम की शक्ति ही मनुष्य के पास एकमात्र शक्ति है, जो कि पार्थिव नहीं है। प्रेम के अपार्थिव सूत्र को पकड़कर ही परमात्मा की सीढ़ियां चढ़ी जा सकती हैं। लेकिन स्वयं से प्रेम करने की बात सुनकर निश्चय ही थोड़ी कठिनाई होगी, क्योंकि हमारी तथाकथित धार्मिक शिक्षायें इसके विरोध में हैं। उनके द्वारा तो परोक्ष – अपरोक्ष में स्वयं से शत्रुता ही सिखायी जाती है। स्वयं के प्रति निंदा और घृणा पर ही तो हमारे जीवन के आधार रखे जाते हैं। इन आधारों पर ही तो हम स्वयं का दमन सीखते और करते हैं। हमारी तथाकथित नैतिकता और धार्मिकता सिवाय आत्मदमन के और क्या है? और आत्मदमन स्वयं से घृणा और शत्रुता के अभाव में हो ही कैसे सकता है? मनुष्य की आजतक की धार्मिकता स्वयं को दो खंडों मे तोड़कर उनके संघर्ष और द्वन्द्व पर ही तो खड़ी हुई है। इस भांति की आधारभूत भ्रांति पर खड़ा जीवन यदि कुरूप हो जाता हो तो कोई भी आश्चर्य नहीं है। जीवन का सौन्दर्य आत्म द्वन्द्व से कभी भी फलित नहीं हो सकता है। क्योंकि जो अपने से ही लड़ता है, वह अपनी शक्ति ही खोता है और उसके जीवन में किसी भांति की विजय तो असंभस है। उसके जीवन में विजय असंभव है, इसलिए कि वह अपने ही दोनों हाथों को लड़ा रहा है। उन दोनों हाथों के पीछे वह स्वयं ही है। इसलिए, जीतेगा तो कौन किससे जीतेगा?

जीत भी नहीं होगी — हार भी नहीं होगी। होगा मात्र द्वन्द्व और द्वन्द्व में शक्ति ह्रास और मृत्यु। और इस भांति चूंकि व्यक्ति की सारी शक्तियां अपने ही विध्वंश में संलग्न हो जाती हैं, इसलिए जीवन कुरूप और अपंग और व्यर्थ हो जाता है। जीवन स्वयं के सृजन लगे तो ही सौन्दर्य को सत्य को और और शिवम् को उपलब्ध होता है। लेकिन आत्मदमन के उपदेश व्यक्ति के भीतर संगीत तो पैदा नहीं कर पाते, वरन् विसंगीत ही पैदा कर देतें हैं। यह विसंगीत ही दुख है, चिन्ता है, संताप है। जो व्यक्ति अपने भी द्वन्द्व से भर जाता है, जो अपने से ही लड़ने लगता है और अपने को ही शत्रु और स्वयं में विभाजित कर लेता है, जो अपने ही भीतर किन्हीं शक्तियों को दुश्मन की तरह मानने लगता है और अपनी ही किन्हीं अन्य शक्तियों को उनके विरोध में खड़ा करा लेता है, वह स्वयं ही स्वयं के लिए नर्क का निर्माण कर लेता है। और ऐसे ही जीवन को हम धार्मिक जीवन मानते रहे हैं? मेरे देखे, धार्मिक जीवन बिल्कुल ही और बात है। वह आंतरिक द्वन्द्व का नहीं, वरन् आंतरिक शांति और संगीत का जीवन है। वह आत्मविग्रह का नहीं, आत्मिक ऐक्य और अखंडता का जीवन है। और जो इस आत्म संगीत को पाना चाहता है, उसे प्रारंभ से ही उसकी बुनियाद रखनी होगी। द्वन्द्व से प्रारंभ कर कोई अद्वन्द्व पर नहीं पहुंच सकता है। क्योंकि जो अंत है, वह प्रारंभ में ही उपस्थित रहता है। इसलिए स्मरण रहे कि प्रथम चरण अंतिम चरण से कहीं ज्यादा मूल्यवान है। परमात्मा तो परम संगीत है। और इसके पहले कि मैं उस संगीत से जुड़ूं, यह अतिआवश्यक है कि मैं स्वयं संगीत बन जाऊं। और वह संगीत स्वयं को घृणा करने से नहीं, आत्म निन्दा और आत्म विग्रह से नहीं, वरन् स्वयं को प्रेम करने से उत्पन्न होता है। आध्यात्मिक जीवन की पहली बुनियादी आधार कड़ी अपने से प्रेम करना है। निश्चय ही इससे आप थोड़े हैरान होंगे, क्योंकि हमें तो कहा जाता है कि आपके भीतर कुछ है, जिसे दबाओ, आपके भीतर कुछ है, जिसे नष्ट करो, किन्तु मैं आपसे कहता हूं कि आपके भीतर ऐसा कुछ नहीं है, जिसे दबाओ, नष्ट करो। हां आपके भीतर कुछ शक्तियां जरूर हैं, जिन्हें रूपांतरित करना है, नष्ट नहीं। जिन्हें प्रेम करना है और जगाना है, दबाना नहीं। जिन्हें मार्ग देना है और दिशा देनी है। लेकिन जो उन्हें शत्रु मान लेता है, वह तो उन्हें रूपांतरित करने में सफल नहीं हो सकता है। ध्यान रहे कि जिसे समझ है, वह अपने भीतर के विष को भी अमृत में परिणत कर लेता है और जिसे समझ नहीं है, वह तो अपने भीतर के अमृत को भी विष में गिरा देता है। इसलिए मैं तो समझ को ही

अमृत कहता हूं और समझ के अभाव को ही विष । हम देखते हैं, सड़ी हुई चीजें, दुर्गंध देती हुई चीजें भी खाद बन जाती हैं । अभी मुझे किसी ने फूल भेंट कियें हैं । वे कैसी सुगंध से भरे हैं ? और जैसे ही उनकी सुगंध ने मेरे प्राणों को झंकृत किया, मुझे याद आया कि यह सुगंध कहां से आती है । खाद में जो दुर्गन्ध है, वही तो बीजों के माध्यम से प्रविष्ट होकर परिवर्तित हो जाता है । वही तो सुगन्ध बन जाता है । अगर घर के बाहर आप खाद को इकट्ठा कर लें तो आप दुर्गन्ध में रहने लगेंगे और अगर घर के बाहर आप खाद की बगिया बना लें तो आप सुगन्ध में रहने लगेंगे । जो दुर्गन्ध है वह सुगन्ध का ही अविकसित रूप है, सुगन्ध का विरोध नहीं । मित्र, वह जो दुर्गन्ध है, वह सुगन्ध का ही अविकसित रूप है । जो विसंगीत है, वह भी संगीत का ही अविकसित रूप है, अव्यवस्थित रूप है । मनुष्य के जीवन में ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे खंडित करना और नष्ट कर देना हो, मनुष्य के जीवन में ऐसा जरूर बहुत कुछ है, जिसे परिवर्तित करना है, जिसे उदात्त करना है, जिसे ऊपर उठाना है । मनुष्य के पास शक्तियां हैं, और स्मरण रहे, शक्तियां तटस्थ होती हैं । वे न शुभ होती है, न अशुभ होती हैं, न अच्छी होती हैं, न बुरी होती हैं । शक्तियां तटस्थ होती हैं । उनका हम जैसा उपयोग करते हैं, वे वैसी ही हो जाती है । जिसे लोग सेक्स की शक्ति कहते हैं, काम की शक्ति कहते हैं और तथाकथित धार्मिक व्यक्ति जिसके विरोध में खड़े रहते हैं, वह बिल्कुल तटस्थ शक्ति है, क्योंकि वही शक्ति परावर्तित होकर दिव्य शक्ति में परिणत हो जाती है । वह तो सृजन की आद्य शक्ति है और उसके उपयोग पर निर्भर है कि वह क्या कर सकती है । उसपर नहीं वरन् हमारी समझ और जीवन जीने की कला पर ही निर्भर है कि वह क्या हो सकती है, वही शक्ति तो परावर्तित होकर ब्रह्मचर्य बनजाती है । ब्रह्मचर्य काम शक्ति का विरोध नहीं, उसका ही ऊर्ध्वीकरण है? जिसे आप क्रोध कहते हैं, क्रोध में प्रगट होने वाली शक्ति ही तो शान्ति बन जाती है । परावर्तन की बात है । जीवन में विनाश की नहीं सृजन की श्रेष्ठतातर सृजन की बात है । और यदि यह सत्य स्पष्ट है, तो सवाल अपने से संघर्ष और शत्रुता का नहीं, अपने से प्रेम करने का है । क्योंकि स्वयं से प्रेम में ही स्वयं का सृजन हो सगता है । और मैं कहना चाहूंगा कि स्वयं से स्वयं के शरीर को बाहर मत रकना । उसे भी प्रेम दो । प्रेम पाकर वह भी जागता है । और उसकी सोई शक्तियां भी सक्रिय हो उठती हैं । लेकिन न तो तथाकथित भोगी शरीर से प्रेम करते हैं और न तथाकथित त्यागी । भोगी की स्वयं की देह के प्रति घृणा उसके असंयम

में प्रगट होती है। इस घृणा में ही तो वह देह का अपव्यय कर पाता है। और चूंकि त्यागी भी इसी भोगी की प्रतिक्रिया होते हैं, इसलिए शरीर के प्रति शत्रुता में वे भी पीछे नहीं हैं। निश्चय ही उनकी दिशा भिन्न होती है। वे संयम के नाम पर शरीर को सताते हैं। एक भोग के नाम पर सताता है, एक त्याग के नाम पर। लेकिन, शरीर के प्रति प्रेम और धन्यता का भाव उन दोनों में ही नहीं होता है। शरीर के प्रति अनुकूल का भाव और प्रेमपूर्ण दृष्टि स्वस्थ चित्त व्यक्ति का अनिवार्य लक्षण है, शरीर के साथ कैसा भी दुर्व्यवहार अस्वस्थ और रुग्ण **चित्तता** है। और चित्त के दो रोग हैं— भोग का रोग और त्याग का रोग। भोगी चित्त इसलिए तो **एकदम** से त्याग पर पहुंचता है। काश! वह बीच में रुक सकता। लेकिन एक रोग से दूसरे रोग पर जाना सदा ही आसान होता है और रोग से महारोग पर जाना हो, तब तो कहना ही क्या है? ऐसे ही—रुग्ण चित्त व्यक्तियों ने बहुत कुछ सिखाया है, वे सिखाते हैं कि शरीर शत्रु है। इससे लड़ना है। और ऐसी विषाक्त शिक्षाओं का ही परिणाम है कि धर्म अत्यंत शरीरवादी हो गया है। शरीर का विरोध भी तो शरीर पर ही केंद्रित कर देता है। इसलिए मैं कहता हूं कि यदि शरीर का अतिक्रमण करना है, यदि उससे ऊपर जाना है, तो उससे लड़ो मत, उससे शत्रुता मत पालो, वरन् उसे प्रेम करो और उससे मित्रता साधो। शरीर शत्रु नहीं हैं। साधन है और बहुत अद्भुत साधन है। उसका उपयोग करो और जिसका भी उपयोग करना हो उसके प्रति प्रेम का हाथ बढ़ाना चाहिए। सबसे पहले अपने शरीर के प्रति प्रेम का हाथ बढ़ाना चाहिए। शरीर परमात्मा की अनूठी कृति है। वह बहुत रहस्यपूर्ण सीढ़ी है। उसपर से ही होकर तो परमात्मा तक जाना है। और वह व्यक्ति निश्चय ही पागल है, जो कि सीढ़ी को पार तो नहीं करता, वरन् उससे लड़ता है। और ऐसे पागल चारों ओर हैं। उनसे सावधान रहना आवश्यक है। ऐसे पागलों के कारण मनुष्य जाति का कितना अहित हुआ है, इसका हिसाब लगाना कठिन है। जो शरीर आपको सहज ही मिला है, उसमें क्या क्या रहस्य छिपे हैं, यह आपको पता ही नहीं है। यदि कोई व्यक्ति अपने शरीर के ही रहस्यों को जान ले, तो वह परमात्मा के अनन्त रहस्यों की कुंजी पा सकता है। यह कितना छोटा सा शरीर है, पर इसमें बड़े विराट रहस्य छिपे हैं। इसमें ही मन छिपा है। उस मन में ही आत्मा छिपी है। उस आत्मा में ही परमात्मा छिपा है। एक संत जब मर रहा था, तो उसने अपने पास उपस्थित सारे लोगों से विदा ली और सारे लोगों को धन्यवाद दिया और अन्त में वह हाथ जोड़कर

खड़ा हुआ और उसने कहा, "हे मेरे प्यारे शरीर, तू ने ही मुझे परमात्मा तक पहुंचाया है, मेरे धन्यवाद को स्वीकार कर। मैं तेरे लिए कुछ भी नहीं कर सका और उल्टे मैंने तुझे सदा यातना और पीड़ा ही दी। मैंने सदा तुझसे काम लिया है और बदले में कुछ भी नहीं दिया है। मैं तेरा अत्यन्त ऋणी हूं और इस विदा के क्षण में तुझसे क्षमा मांगता हूं। जो भूलचूक मैंने तेरे साथ की हो, उसके लिए मुझे क्षमा करना। मुझपर तेरे उपकार अनन्त हैं। तेरे बिना मैं परमात्मा तक पहुंचने में असमर्थ ही था।"

शरीर के प्रति ऐसी ही दृष्टि चाहिए – ऐसे ही अनुग्रह का भाव चाहिए– ऐसा ही प्रेम चाहिए। उस संतने अपने शरीर से कहा, "हे मेरे प्यारे शरीर!" ये शब्द मेरे हृदय को एक अद्‌भूत आनन्द से भर देते हैं! क्या आपके जीवन को भी ऐसी ही समझ आलोकित नहीं कर सकती है? क्या मैं पूछ सकता हूं कि क्या कभी आपने अपने शरीर के प्रति ऐसे प्रेम से भरकर निहारा है? क्या कभी उसकी सेवाओं के लिए अनुगृहीत हुये हैं? क्या कभी उसका धन्यवाद किया है? यदि नहीं, तो यह कैसी अकृतज्ञता है? यह कैसी अशिष्टता है? यह कैसा असज्जनोचित व्यवहार है?

शरीर के प्रति समझ चाहिए। गहरी संवेदना चाहिए। उसकी हिफाजत का बोध चाहिए। और मैत्रीपूर्ण रुख चाहिए। वह बहुत बड़ी यात्रा पर सुख – दुख का साथी है। वह साधन है। वह सीढ़ी है। इसलिए मेरी दृष्टि में जिसको भी समझ है वह शरीर के प्रति दुष्टता और शत्रुता का व्यवहार नहीं कर सकता है। लेकिन दुनिया में ऐसे विक्षिप्त लोग हुए हैं और हैं, जिन्होंने अपने शरीर के साथ जो दुर्व्यवहार, जो हिंसा और जो दमन और जो उत्पीड़न किया है, वह हृदय को रूदन से भर दे और प्रार्थना से कि हे परमात्मा! मनुष्य जाति को ऐसी आध्यात्मिकता से मुक्त कर। ऐसे पागलों का व्यवहार सिवाय इसके कि उन्होंने अपनी बुद्धि खो दी हो और किसी बात का प्रमाण नहीं है। लेकिन ऐसे लोगों के भी दूषित प्रभाव पीछे छूट गये हैं और आज भी हमारा पीछा कर रहे हैं। इस तरह बीमार शिक्षाओं से स्वयं को मुक्त करें। ऐसे लोगों को पूजने की नहीं, वरन् उनकी चिकित्सा की आवश्यकता है। और मैं आशा करता हूं कि कभी न कभी हम यह जरूर ही कर सकेंगे। शरीर के भोग से जो अशक्ति, असफलता, और असंतुष्टि पैदा होती है, उसकी ही तीव्र प्रतिक्रिया में शरीर से शत्रुता आ जाती है। इस भांति स्वयं के दोष शरीर पर थोप दिये जाते हैं, जो कि बिल्कुल ही निर्दोष है। मैं शरीर की शत्रुता पर खड़ी समस्त कुच्छ

साधनाओं के प्रति सजग होने का निवेदन करता हूं, क्योंकि शरीर को जिस भांति आपने अब तक भोगा है, उसके कारण वैसी कृच्छ साधनाओं का एक प्रबल आकर्षण आपके भीतर भी हो सकता है। यदि कोई व्यक्ति धन को देखकर लालच से भर जाय या किसी व्यक्ति के रूप को देखकर लोभ से और आकर्षण से भर जाये और अपनी आंखें फोड़ ले, तो उसे मैं पागल कहूंगा। क्योंकि आंखें न तो लोभ करने को कहती हैं, न राग करने को कहती हैं। आंखें तो कुछ भी नहीं कहती हैं। आप आंखों से जो उपयोग लेते हैं, वे उसी के लिए राजी हो जाती हैं। शरीर तो एकदम आपका अनुगत है, शरीर तो एकदम सेवक है। वह तो सदा तैयार है, उसे जहां आप ले जायें। आप कहें नर्क चलो तो शरीर नर्क चलने को हाजिर है, आप कहें स्वर्ग चलो, तो शरीर स्वर्ग चलने को राजी है। सवाल शरीर का नहीं, वरन् आपके संकल्प का है। और स्मरण रखें, संकल्प के पीछे शरीर सदा चला जाता है। हम गलती करेंगे, अगर हम संकल्प को तो न बदले और शरीरको कष्ट देने लगें और पीड़ा देने लगे और शरीर को नष्ट करने लगें। शरीर के साथ किया गया दुराचार हिंसा का ही एक रूप है, आत्महिंसा का और उसका मैं समर्थन नहीं करता हूँ। मैं आत्मप्रेम का समर्थन करता हूं और मुझे दिखायी पड़ता है कि स्वयं के प्रति हिंसा से अधिक मूर्खतापूर्ण और कुछ भी नहीं हो सकता है। लेकिन आत्मप्रेम से मेरा प्रयोजन अहं– केंद्रित व्यक्तित्व से नहीं है। अहं–केंद्रित व्यक्ति तो कभी स्वयं को प्रेम करता ही नहीं, क्योंकि यदि वह स्वयं को प्रेम करता, तो अहंकार से मुक्त हो जाता, क्योंकि अहंकारसे अधिक पीड़ादायी तो कोई नर्क ही नहीं है। अहं–केंद्रित व्यक्ति ही धार्मिक बन आत्महिंसा में प्रवृत्त होता है, क्योंकि इस भांति अहंकार की जितनी तृप्ति और पुष्टि होती है, उतनी और किसी भांति नहीं होती है। तथाकथित त्यागियों, साधुओं और अर्ध महात्माओं में जो दर्प परिलक्षित होता है, वह इसी कारण। महात्मा होने के कारण वे अहंकारी हैं और अहंकारी होने के कारण महात्मा हैं।

परमात्मा की प्रकृति में कुछ भी ऐसा नहीं हो सकता है, जो आपके प्रति शत्रूतापूर्ण हो, कुछ भी ऐसा नहीं हो सकता है, जो आपके विरोध में खड़ा हो। लेकिन आप उसका उपयोग न करें या दुरुपयोग करें, तो बात ही दूसरी है। रास्ते पर पत्थर पड़ा हो तो जो जानते हैं, वे उसे सीढ़ी बना लेते हैं और जो नहीं जानते, उनके लिए बनी हुई सीढ़ी भी रास्ते में अटकाव, अवरोध हो जाती है। जीवन में सब कुछ दृष्टि की बात है। और दृष्टि ही भ्रांत हो, तो बहुत

बड़ा अन्तर पड़ता है। शरीर को शत्रु मानकर ही जो प्रारंभ करता है, उसके लिए वह शत्रु ही हो जाता है, तो आश्चर्य नहीं है। उसे मित्र मानकर प्रारंभ करें। उसे मित्र जानें। वह मित्र है। उसके प्रति विरोध – वैमनस्य जाते ही एक बोझ स्वयं से हट जाता है — एक तनाव से मुक्ति हो जाती है— एक शांति और विश्रांति का अनुभव होता है। करे और देखें। स्मरण रखें, शरीर तो केवल माध्यम है। वह किसी को कहीं नहीं ले जाता है। उसके प्रति सब दुर्भाव छोड़ें। पक्षपात मुक्त होकर उसे देखेंगे, तो उसकी मूक सेवाओं के प्रति हृदय अनायास ही प्रेम से भर जाता है। फिर शरीर पर ही नहीं रुक जाना है। और गहरे भी चलना है। शरीर तो स्वयं के प्रति प्रेम की यात्रा का प्रारंभ बिंदु ही है। शरीर से गहरे जाते ही मन है। इस मन को भी प्रेम करना है। इससे भी मैत्री करनी है। साधारणतः स्वयं के व्यक्तित्व के ये दो तल —— शरीर और मन—— ही तो हमें ज्ञात हैं। इनसे ऊपर या इनसे गहरे जाने को इनका ही तो उपयोग करना है। शरीर की भांति ही मन के विरोध में तो और भी बड़े प्रचार हैं। मन तो धार्मिक शत्रुता का केन्द्र ही है। जबकि मन से मुक्त होने के लिए पहले इस शत्रुता से ही मुक्त होना आवश्यक है। मन तो एक शक्ति है और वैसे ही परमात्मा की शक्ति है जैसे अन्य सारी शक्तियां हैं। न केवल वह अन्य शक्तियों की भांति एक शक्ति मात्र है, बल्कि एक अत्यधिक विकसित और सूक्ष्म शक्ति है। उसकी निंदा और विरोध और उसे गालियां देना नासमझी तो है ही, अत्यंत घातक भी है। उचित तो यही है कि हम जानें कि अभी मनुष्य न तो मन के पूरे रहस्यों से ही परिचित है, और न ही मानसशक्ति का उपयोग ही करना जानता है। अभी मन की स्थिति वैसी ही है, जैसी कभी विद्युत की थी। एक समय था कि विद्युत केवल विनाश ही करती थी, लेकिन आज वह अत्यंत सृजनात्मक कार्यों में प्रवाहित हो रही है। मन की शक्ति से जिस दिन मनुष्य पूरी तरह परिचित होगा, उस दिन मनुष्य जाति के इतिहास में बड़ी सृजनात्मक और सौभाग्य की घड़ी उपस्थित हो जावेगी। मन अपरिसीम शक्तियों का भंडार है। लेकिन जो मन के विरोधी हैं, वे इन्हीं शक्तियों से टकराकर अपने ही हाथों नष्ट हो जाते हैं। जो लोग मन के विरोध में हैं, उन की निंदा और विरोध का मूल कारण है : मन की चंचलता। जब कि चंचलता जीवन का लक्षण है। किंतु अनेक लोग जीवन से ही भयभीत होते हैं और मृत्यु के आकांक्षी। ऐसे आकांक्षियों को जड़ता ही शुभ मालूम होती है, क्योंकि जड़ता में उन्हें शांति के दर्शन हो जाते हैं। लेकिन मैं आपसे कहता हूं कि वह शांति झूठी है, जो जड़ता से

फलित होती है। चित्त की जड़ता तो आत्मघाती है। उसमें दीखनेवाली शांति मरघट की शांति है। और मरघट की शांति से तो जीवन की अशांति भी बेहतर है। मन को मारकर लायी गयी शांति नहीं, मन को जानकर आयी शांति का ही मूल्य है और उसकी ही उपादेयता है। वैसी शांति ही और ऊंचाइयों की ओर ले जानेवाला वाहन बन सकती है। मृत शांति तो परमात्मा की ओर नहीं, पदार्थ की ओर चली जाती है। चाहिए जीवन्त शांति ——— जीवन्त मौन। क्योंकि जो जीवन्त है, वही परम जीवन की ओर जाने का द्वार बन सकता है। इसलिए मैं मन को मारकर ——— उसकी चंचलता को मारकर शांत होने को नहीं कहता हूं। वैसी जड़ता और मूढ़ता में कभी मत पड़ना। वैसे ही जड़ता काफी है, और आप उसे और न बढ़ाइए तो बडी कृपा होगी! मैं तो ऐसा चित्त चाहता हूं, जो कि जीवन्त भी हो, और शांत भी। और चंचलता को—प्रवाहशीलता को बिना खोये जो शांति मिले वही जीवन्त हो सकती है। सरोवरों की शांति नहीं, चाहिए सरिताओं की शांति — सतत सागर की ओर बहती जीवित सरिताओं की शांति। यह हो सके तो ही व्यक्ति परमात्मा तक पहुंच सकता है। इसलिए मैं कहता हूं कि मन की चंचलता से दुखी मत होइए, न ही उसकी निन्दा करिये और न उसके शत्रु बनिये। अच्छा तो यही हो कि आप उसकी कृपा मानिये, नहीं तो आप बहुत पहले ही कहीं सरोवर बन गये होते। मन चंचल न हो तो आप किसी भी कूड़े कचरे पर किसी भी घूरे के ढ़र पर एकाग्र हो बैठ गये होते। मन चंचल न होता तो लोभी लोभ पर, मोही मोह पर, कामी काम पर ही सदा को ठहर जाता। फिर तो परमात्मा तक उठने का कोई मार्ग नहीं था। क्योंकि बीच यात्रा में ही कोई भी परमात्मा का काम दे सकता था। लेकिन मन की चंचलता के समक्ष सभी झूठे परमात्मा बह जाते हैं और मन आगे बढ़ जाता है। मन चंचल है इसलिए कहीं टिकने नहीं देता और सदा आगे बढ़ाता रहता है। मन की चंचलता के पीछे एक बड़ा रहस्य सूत्र है, जो मैं आपको कहना चाहता हूँ और वह यह है : "मन इसलिए चंचल है कि जब तक मन के योग्य अंतिम विश्राम न आजाय, तब तक वह आपको चैन नहीं लेने देगा। मन केवल परमात्मा में जाकर ही अपनी चंचलता को छोड़ाता है। इसके पहले वह अपनी चंचलता नहीं छोड़ता है। यह उसकी बड़ी कृपा है, अन्यथा आप संसार में ही न मालूम कहां स्थिर हो जायं और परमात्मा तक पहुंचने की बात ही समाप्त हो जाय।" इसलिए मन की चंचलता को गाली न दें और निन्दा न करें। मन की

चंचलता को भी कृपा जाने और उसका भी उपयोग करें। स्मरण रखें कि जहां मन स्थिर नहीं हुआ है, वहां जरूर कोई गलती है, इसलिए मन वहां बैठना नहीं चाहता। आप बैठाना चाहते हैं और मन नहीं बैठना चाहता है, जरूर ही इसमें आप ही भूल में हैं। मन तो चंचल हो आपको चेता रहा है, लेकिन आप हैं कि चेतते ही नहीं और उल्टे मन को ही शत्रु मान लेते हैं।

एक कहानी मैंने सुनी है। मिश्र में एक बादशाह था और वहीं एक छोटे से गांव में एक फकीर भी था। बादशाह फकीर को बहुत आदर करता था। वह उससे मिलने और उसे राजधानी आमंत्रित करने उसके गांव गया। उसने पहले से कोई खबर नहीं की। वह जब फकीर के झोपड़े पर पहुंचा, तो वहां उस फकीर का एक शिष्य बैठा हुआ था। उसने बादशाह को खेत की मेड़ पर बैठने को कहा और कहा कि मैं जाकर गांव में गये अपने गुरू को बुला लाता हूं। लेकिन बादशाह बैठा नहीं, वहीं टहलने लगा। यह देख उस युवक ने कहा आप झाड़ के नीचे बैठ जावें, वहां छाया है। लेकिन फिर भी बादशाह बैठा नहीं, वह वृक्ष के नीचे ही टहलने लगा। युवक ने कुछ सोच उससे कहा : आप झोपड़े में अन्दर चलकर बैठ जावें। लेकिन बादशाह फिर भी नहीं बैठा और झोपड़े की दहलान में ही घूमने लगा। यह देख युवक बहुत हैरान हुआ। वह जाकर गुरू को बुला लाया। मार्ग में उसने अपने गुरूसे बादशाह के आश्चर्यजनक व्यवहार के संबंध में पूछा। उस वृद्ध फकीर ने कहा : "बादशाह के बैठने योग्य स्थान हमारे पास नहीं है, इसलिए वह टहलता है।"

मैं आपसे कहना चाहता हूं कि मन भी इसलिए ही चंचल है। वह भी अब तक अपने योग्य सिंहासन नहीं पा सका है और इसलिए ही भटक रहा है। खोजें– उसके योग्य सिंहासन खोजें। वह तो नहीं करते हैं, उल्टे आप उसकी चंचलता से ही लड़ने को आमादा हो उठें! क्या कभी आपने सोचा कि बैठने के लिए आपने उसे कौनसे स्थान बताये हैं? और क्या आप चाहते हैं कि वह उनमें से ही किसी पर बैठ जाता? मित्र, मन की चंचलता आपके ऊपर बड़ी कृपा है। आप जो जो जगह उसे बताते हैं, यहां बैठ जाओ, वहां वह बैठता नहीं। परमात्मा के पहले मन कहीं भी नहीं बैठता है और उसकी यह असीम कृपा है। मन की चंचलता बड़ी सहायक है। स्मरण रखें, जहां मन नहीं बैठता, समझ जायें कि वह मन के योग्य स्थान नहीं है। थोड़ी बहुत देर जबरदस्ती बिठा लें, वह फिर उठ जायगा और फिर कहीं और भागने लगेगा। उस क्षण तक यह भाग चलती रहेगी। जब तक परम विश्राम का बिन्दु न आ जाय। वह परम विश्रांति का बिंदु ही परमात्मा है।

लोग कहते हैं कि मन को एकाग्र करें, तो परमात्मा मिल जायगा। मैं कहता हूं, परमात्मा मिल जाय, तो मन एकाग्र हो जाय। लोग कहते हैं मन को बिठायें, तो परमात्मा मिल जायगा और मैं कहता हूं कि परमात्मा मिल जाता है, तो मन बैठ जाता है। मन तो वहीं जाता है, जहां सुख है। मन दुख की ओर नहीं जाता है। मन तो वहीं भागता है, जहां सुख है और जहां सुख की झलक टूटी, तो मन पुनः भागने लगता है। इसलिए मन कहीं नहीं टिकता है। दस हजार रुपये इकट्ठा कर लें, मन पहले कहेगा शायद सुख हो। चलो दस हजार इकट्ठे हो गये, लेकिन लो, मन तो फिर भागने लगा। वह दस हजार पर बैठ भी नहीं पाया था कि उसका भ्रम दूर हो गया। दस लाख इकट्ठा कर लो, दस लाख इकट्ठे हो गये, तो फिर मन का भ्रम दूर हो जायगा। दस करोड़ इकट्ठा कर लें। लेकिन फिर वही होगा। मन भागता ही रहता है। जहां सुख का आभास मिलता है, वहीं भागता है, जहां भी सुख का आभास टूटा वहीं से भागता है। मन उसी दिन अपने भागने को बन्द करता है, जिस दिन सच्चा सुख मिल जाय, जिसका आभास नहीं टूटता। जैसे ही आभास टूटता है कि मन चंचल हो जाता है। जब तक आभास होता है तब तक मन थिर होता है थोड़ा सा। अगर सच में सुख मिल जाय तो मन बिल्कुल थिर हो जाता है, फिर भागने का प्रश्न ही विलीन हो जाता है।

तो मैं आपको नहीं कहूंगा कि मन को जबरदस्ती ठहरायें। जबरदस्ती ठहराने से जड़ता आती है, अंतिम मंजिल नहीं। अंतिम मंजिल आने पर मन ठहर जाता है, इससे ही यह भ्रांति पैदा हुई कि जैसे उसके ठहर जाने से मंजिल आ जावेगी। यह तो बैलों के आगे गाड़ी बांधना है। यह तो वैसे ही है, जैसे नींद आने पर आंखें बंद हो जाती हैं, तो कोई सोचे कि आंखें बंद कर ली तो नींद आ गई। मैं तो आपको कहूंगा कि मन को उस दिशा में क्रमशः और प्रेम से गतिमय करें, जहां सच्चे सुख की सुगन्ध है, जहां सच्चे सुख का और आनन्द का आवास है उस तरफ मन को क्रमशः ले चलें। आनन्द की ओर आंखें उठावें और मन तो स्वतः पीछे आवेगा। लेकिन भूलकर भी मन के साथ जोर जबरदस्ती और बलात्कार न करें। उसका परिणाम उल्टा ही होता है। मन प्रतिरोध करने लगता है। उससे प्रतिकार आने लगता है। फिर आपकी कर्तनायें ही उसे आमंत्रण बन जाती हैं और आपके निषेध ही आकर्षण। वह उन्हीं दिशा में उत्सुक हो उठता है, जिनमें जाने से आप उसे रोकना चाहते हैं। यह स्वाभाविक ही है। इस सीधे सादे नियम को न जानने से आप व्यर्थ के क्लेशों

में पड़ जाते हैं। पहली बात जानें कि मन आपका शत्रु नहीं है। उसे प्रेमपूर्ण दिशा निर्देश दें और उसकी वृत्तियों का दमन न करें। उसकी वृत्तियों को समझें। उनके प्रति विवेक को जागृत करें। विवेक के प्रकाश में जो शुभ है, वही शेष रह जाता है, और जानें कि जिसको हम प्रेम करते हैं, उसको हम जीत लेते हैं, इस स्वर्ण सूत्र का सदा स्मरण रखें। और जिससे हम घृणा करते हैं उसकी हम जीत नहीं पाते। कभी नहीं जीत पाते। कोई कभी नहीं जीत पाता है। जिसको हम घृणा करते हैं और शत्रु मान लेते हैं, उसे जीतना असम्भव है और जिसे हम प्रेम करते हैं केवल उसी को जीत सकते हैं। जिसे अपने मन को जीतना हो, उसे उससे प्रेम करना होगा। प्रेम के अतिरिक्त विजय का और कोई मार्ग नहीं है।

इसलिए पहला सूत्र है, अपने को प्रेम करें, घृणा नहीं। अपने को परिवर्तन करें, दमन नहीं। अपने भीतर द्वन्द्व खड़ा न करें, स्वयं को एक इकाई बनाएं और इकाई प्रेम से ही बनती है। अगर मैं अपने समस्त व्यक्तित्व के प्रति जो भी मैं हूं, जैसा भी मैं हूं,——पूरे प्रेम से भर जाऊं और सारी घृणा और निन्दा मेरे मन से विलीन हो जाय—— जो भी मैं हूं, जैसा भी मैं हूं बुरा और भला, उसके प्रति सारा विरोध छोड़ दूं और स्वयं की पूरी इकाई को प्रेम करने लगूं तो मेरे भीतर एक अखंड व्यक्तित्व पैदा हो जायगा। व्यक्तित्व ऐसे ही पैदा होता है, क्योंकि प्रेम जोड़ता है, सारे अंगों को इकट्ठा करता है और जब मैं इकठ्ठा हो जाता हूं, तो मेरे भीतर अद्भुत शक्ति और ऊर्जा का जन्म होता है। जो शक्ति खण्डित होकर बह जाती है, वही इकट्ठी और अखण्ड होकर बहुत बड़ी बन जाती है। और आश्चर्यों का आश्चर्य तो यह है कि जिन क्षुद्र बातों से लड़ते थे और फिर भी जिन्हें जीत नहीं पाते थे, उनके प्रति जागते ही यह शक्ति, यह ऊर्जा उन्हें रूपांतरित कर देती है। व्यक्तित्व की अखंडता स्वयं के रूपांतरण की मूलभित्ति है। स्वयं को बदलना है, नया बनाना है, तो सबसे पहले एक बनो। खंड–खंडों में बंटा व्यक्ति अपनी सारी शक्ति उन खंडों को लड़ाने, सम्हालने और संतुलन बनाये रखने में ही व्यय कर देता है। आत्म रूपांतरण के लिए उसके पास अतिरिक्त ऊर्जा ही नहीं होती है। यह ऊर्जा तो केवल उसके पास ही होती है, जो स्वयं को इतना प्रेम करता है कि उस प्रेम में अखंड हो जाता है।

प्रेम की उड़ान में दूसरा सूत्र क्या है? पहला सूत्र है अपने को प्रेम करें, दूसरा सूत्र है अन्यों को प्रेम करें। जो भी आपके चारों ओर आपको छोड़कर

शेष दिखायी पड़ रहा जीवन है, उनके प्रति यदि सदाशयता, सद्भाव, प्रेम, अहिंसा और करूणा का भाव न हो, तो आप कभी भी उस प्रेम की ओर अग्रसर न हो सकेंगे, जो कि परमात्मा तक ले जाता है।

क्राइस्ट ने कहा है कि जब तू मन्दिर में प्रार्थना को जावे और घुटने टेक कर परमात्मा की तरफ हाथ उठावे और यदि तुझे याद आ जाय कि तेरा कोई पड़ोसी तुझसे नाराज है, तो पहले जा और उससे प्रेम कर। परमात्मा को छोड़ दे। यहीं और जा, उसको प्रेम कर और क्षमा मांग और उससे शान्ति स्थापित कर। क्योंकि जिस व्यक्ति ने अभी मनुष्यों से भी शान्ति स्थापित करने में सफलता नहीं पायी, वह स्वयं और परमात्मा के बीच शान्ति कैसे स्थापित कर सकेगा। निश्चित ही जो व्यक्ति अभी मनुष्यों के तल पर भी प्रेम को नहीं फैला सका, वह परमात्मा के तल पर प्रार्थना को कैसे फैला सकेगा।

एक साधु किसी गांव में ठहरा था। एक आदमी उसके पास आया और उसने उससे कहा कि मैं परमात्मा को पाना चाहता हूं। मैं क्या करूं? साधु ने उसे नीचे से ऊपर तक देखा होगा, बाहर से भीतर तक देखा होगा और उसे पूछा — एक बात पूछूं तो फिर मैं कुछ कहूं। तुझे किसी से प्रेम है? उस व्यक्ति ने सोचा होगा कि प्रेम तो परमात्मा के मार्ग पर एक अयोग्यता है, सो उसने कहा मुझे किसी से भी प्रेम नहीं है। म तो सिर्फ परमात्मा को पाना चाहता हूं। साधु ने कहा फिर थोड़ा गौर से सोचो। थोड़ा अपने भीतर खोजो। पत्नी से, बच्चों से, परिवार से, मित्रोंसे किसी से प्रेम है? उस आदमी ने कहा, मुझे किसी से कोई प्रेम नहीं है। मैं तो परमात्मा को पाना चाहता हूं। वह साधु चुप होगया और उसकी आंखों में आंसू भर आये। वह परमात्मा का खोजी बहुत हैरान हुआ। उसने कहा आप रोते क्यों हैं और आप चुप क्यों हैं? उस साधु ने कहा : "यदि तुझे किसी से प्रेम होता, तो उस प्रेम को परमात्मा की प्राप्तिमें बदला जा सकता, लेकिन तुझे किसी से प्रेम ही नहीं है, तो द्वार ही टूट गया"। लेकिन धर्म के नाम पर तो ऐसे बहुत से उपदेश हैं, जो आपको सिखाते हैं कि किसी से प्रेम न करे। वे सारे उपदेश आपके अहंकार को केन्द्रित कर देंगे। वे आपको परमात्मा तक पहुंचाने में सफल नहीं हो सकते, क्योंकि प्रेम तो उसका द्वार है। प्रेम से इतना भय क्यों है? शायद इसीलिए कि कहीं वह हमें बांध न ले? लेकिन प्रेम तो तभी बांधता है, जब हम और प्रेम फैलाने में असमर्थ होते हैं। अर्थात्, प्रेम नहीं, प्रेम की कमी ही बांधती है। प्रेम थोड़ा है तो ही बंधन बनता है। छोटा प्रेम ही बांधता है। प्रेम

विशाल हो, तो बंधनों को तोड़ बहने लगता है। वह जब आकाश जैसा बड़ा होता है, तब तो उस पर कहीं भी सीमा नहीं रह जाती है। इसलिए मैं कहता हूं : प्रेम को बड़ा करें, विशाल करें, उसपर कोई सीमा न लगावें-कोई शर्त न लगावें– वह निरंतर फैलता ही जाय। वह जिसपर बरसे उसका भी अतिक्रमण करे। वह कहीं रुके न — ठहरे न। प्रेम के कहीं रुक जाने के भय से ही तो तथाकथित अध्यात्मवादी, प्रेम से ही भयभीत हो उठे हैं। किंतु यदि मेरा प्रेम रुकता है, तो वह प्रेम का नहीं, मेरा ही कुसूर है। उसके लिए प्रेम से शत्रुता कैसे उचित है? प्रेम का दोष प्रेम में नहीं, प्रेमी में है। प्रेम रुकता है, क्योंकि प्रेमी ओछा है— संकीर्ण है। लेकिन इससे जो प्रेम के ही विरोध में हो जावे वह तो और भी ओछा और संकीर्ण हो जावेगा। ऐसे तो उसमें जो थोड़ी – बहुत विशालता थी, वह भी विनष्ट हो जाती है। तथाकथित धार्मिक लोगों के अति संकीर्ण मन होने का कारण यही है। मेरी दृष्टि में तो प्रेम को बढ़ाना है और स्वयं को खोना है। लेकिन जो प्रेम को खोता है वह केवल अहं को ही बचा पाता है। प्रेम को फैलाओ। जैसे हम सरोवर में पत्थर को फेंक देते हैं। एक जगह पत्थर गिरता है और फिर उसकी लहरें किनारे की ओर बढ़ने लगती हैं और वह तब तक बढ़ती जाती हैं, जब तक कि दूर अज्ञात किनारों को न छू लें। ऐसा ही प्रेम कहीं भी उठे, किसी के प्रति उठे, सागर में उठी लहरोंकी तरह बढ़ता जाय, उस समय तक जब तक कि परमात्मा के किनारे न छू ले। तो ऐसा प्रेम ही प्रार्थना बन जाता है। तो फिर प्रेम ही प्रार्थना हो जाता है।

मैं नहीं कहता कि मां-बाप से घृणा करो, पत्नी और बच्चों से घृणा करो और मैं नहीं कहता कि किसी से भी घृणा करो। मैं तो कहता हूं कि उनको इतना प्रेम करें, इतना प्रेम करें कि प्रेम उनमें न समा सके और उनके बाहर फैल जाये। और इतना प्रेम करें कि प्रेम कहीं भी न समा सके और बाहर फैल जाये। इतना प्रेम करें और इतना असीम प्रेम अपने भीतर पैदा करें कि सिवाय परमात्मा के उस प्रेम को कोई भी झेलने में समर्थ न रह जाये। क्योंकि असीम को केवल असीम ही झेल सकेगा। अगर असीम प्रेम होगा तो सीमित उसको नहीं झेल सकेगा। वह उसके पार निकल जायेगा, उसके अतीत हो जायेगा, उसके ऊपर उठ जायेगा। उससे दूर फैल जायेगा। उसको तो प्रेम मिलेगा, निश्चित प्रेम मिलेगा, बहुत प्रेम मिलेगा। वह तो प्रेम से भर जायेगा। लेकिन आपके लिए उसपर किया गया प्रेम, बाधा नहीं बन पायेगा। वह तो तभी बाधा बनता है, जब कहीं रुक जाता है और ठहर जाता है। जो प्रेम रुक जाता है

वह राग बन जाता है, वह आसक्ति बन जाता है। और जो प्रेम बढ़ जाता है वह प्रार्थना बन जाता है। स्मरण रखें, जो प्रेम रुक जाता है वह — मोह हो जाता है, वह राग हो जाता है, वह बन्धन हो जाता है। और जो प्रेम आगे बढ़ जाता है लहर की भांति वह प्रार्थना हो जाता है, वह परमात्मा हो जाता है, वह मुक्ति हो जाता है। प्रेम मुक्त करता है, अगर प्रेम बढ़ता जाये और रुके नहीं। उस समय तक बढ़ता जाये जब तक कि कोई शेष न रह जाय जिसपर प्रेम न हो। उस क्षण जो मिलन है, वही मिलन है। वही मिलन परमात्मा से मिलन है। तो स्मरण रखें अपने से प्रेम को कहता हूं और सबसे प्रेम को कहता हूं। और कभी भी प्रेम को बुरा न समझें। इतना ही समझ रखें कि प्रेम रुके नहीं। रुकावट बुरी है, प्रेम बुरा नहीं। लेकिन लोगों ने प्रेम को बुरा समझ लिया है और जब उन्होंने प्रेम को बुरा समझ लिया है तो उसको सिकोड़ते हैं। वह नहीं जानते कि सिकुड़ा हुआ प्रेम ही रुका हुआ प्रेम है। वह जितना सिकुड़ जाएगा उतना ही गंदा हो जाएगा, उतना ही अपने में बन्द हो जाएगा। जो व्यक्ति सबसे प्रेम को खींच लेता है वह कहां जायेगा, वह अहंकार में केन्द्रित हो जायेगा। जो व्यक्ति सबसे अपने प्रेम को खींच लेता है, वह अपनी अस्मिता में, अहंकार में, 'मैं' में ही ठहर जाता है और अहं और ब्रह्म के बीच सर्वाधिक फासला है। वे दो बिंदु ही अस्तित्व में सर्वाधिक दूरी पर हैं।

और, जो व्यक्ति 'मैं' में ठहर गया, वह नरक में पहुंच गया। उसके दुःख और पीड़ा का अन्त नहीं हो सकता। उसकी पीड़ा अनन्त होगी, अनन्त दुःख होगा, क्योंकि उसके आनन्द के सब द्वार बन्द हो गये हैं, जो कि प्रेम से खुलते हैं। उसके लिए सौन्दर्य के सब द्वार बन्द हो गये हैं जो कि प्रेम से खुलते हैं, संगीत के सब द्वार बन्द हो गये हैं जो कि प्रेम से खुलते हैं। प्रेम तो कुंजी है— सत्य की, शिव की, सुन्दर की —— वही तो गुप्त कुंजी है। जीवन में जो भी श्रेष्ठतम है वह प्रेम से खुलता है और जो श्रेष्ठतम है वह अहंकार से बन्द होता है। हां, अहंकार दूसरी कुंजी है। लेकिन, वह नरक के अतिरिक्त और कोई भी द्वार नहीं खोलती है। और स्मरण रहे कि इन दो कुंजियों के अतिरिक्त और कोई कुंजी नहीं है। और यह भी स्मरण रहे कि एक मनुष्य के पास एक समय में एक ही कुंजी होती है। परमात्मा के विधान में दोनों कुंजियां एक ही साथ एक मनुष्य के पास कभी नहीं होती हैं। एक कुंजी को खोने को जो राजी होता है, उसे ही दूसरी कुंजी उपलब्ध होती। प्रेम मनुष्य के हृदय को ही खोलने वाली कुंजी नहीं, वरन् हृदय मात्र को खोलने वाली कुंजी है। फिर चाहे वह हृदय

पत्थर का हो, पौधे का, पशु का या परमात्मा का। वनस्पति-शास्त्री लुथर बुरबांक की पौधों के प्रति प्रेम की घटना प्रसिद्ध है। उसने पौधों को प्रेम करके उनसे अपनी बातें भी मनवा लीं। उसने कंटीले पौधों से निरंतर कहा : "मित्रो, तुम्हें भयभीत होने की कोई भी जरूरत नहीं। आत्मरक्षा के लिए इन कांटों की भी आवश्यकता नहीं। क्या मेरा प्रेम ही तुम्हारी पर्याप्त सुरक्षा नहीं है?" और वर्षों के प्रेम के पुरस्कार में अंततः रेगिस्तान के उन कंटीले पौधों ने भी उसकी बात सुन ली और कांटों से रहित एक नई ही जाति को पैदा करने में वह सफल हो गया। और जब भी कोई उससे पूछता कि यह असंभव सी बात कैसे संभव हुई तो वह कहता : "प्रेम से।"

मैं भी आपसे कहता हूं कि प्रेम से असंभव भी संभव हो सकता है। निश्चय ही परमात्मा से ज्यादा असंभव और क्या है, लेकिन वह भी प्रेम से संभव हो जाता है।

और प्रेम असंभव नहीं है। वह तो अत्यंत सरल है। वह तो सबमें मौजूद ही है। बस, उसे विकसित करना है और विस्तीर्ण करना है। प्रेम के बीज तो सबमें हैं, लेकिन प्रेम के फूलों तक पहुंचना बहुत ही थोड़ेसे व्यक्तियों का सौभाग्य हो पाता है– क्यों? क्योंकि हम प्रेम को अंकुरित ही नहीं होने देते। हम प्रेम चाहते तो हैं, लेकिन देते नहीं। और प्रेम पाने से नहीं, देने से विकसित होता है। प्रेम बेशर्त दान है। और जो ऐसा प्रेम देने में समर्थ है वह सहज ही उसे बहुलता से पाता भी है। दिया गया प्रेम, प्रेम पाने की क्षमता का भी निर्माता है। उससे ही प्रेम पाने की पात्रता भी निर्मित होती है। और फिर प्रेम जितना पाया जाता है उतना ही स्वयं से भी चाहता है। ऐसे ही प्रेम की गहराइयों पर गहराइयां उभरती हैं और धीरे धीरे प्राण अपनी समग्रता में प्रेम और केवल प्रेम में ही परिणत हो जाते हैं। लेकिन प्रेम की इस पूर्णता का प्रारंभ सदा दान से होता है। और जो मांग से इसका प्रारंभ चाहते हैं, वे कभी प्रारंभ कर ही नहीं पाते। प्रेम तो सम्राट है। वह भिखारी नहीं है। इसलिए जो उसे मांगता है, वह पाता तो है ही नहीं, और इस असफलता में ही क्रमशः देने में भी असमर्थ होता जाता है। और जितनी यह असफलता बढ़ती है उतना ही पाना असंभव होता जाता है। इसलिए स्मरण रखें कि प्रेम देना है। बिना कुछ मांगे देना है। उसे प्रतिदानकी आशासे मुक्त करें। वह सौदा नहीं है। वह तो बस दान ही है। उसका आनन्द उसके देने में ही है, उसके बदले में कुछ पाने में नहीं। वह तो दिये जाने में ही इतना दे जाता है कि बदलेमें कुछ पानेका प्रश्न ही नहीं। इसलिए

ही तो प्रेम देने वाला उसे स्वीकार करने वाले के प्रति सदा ही अनुगृहीत होता है। प्रेम के दान में ——— अशेष और असीम दान में ही तो प्राणों को परमात्मा तक ले जाने वाले पंख मिलते हैं। मित्र, प्रेम के पंखों को फैलायें और परमात्मा के आकाश में उड़े। प्रेम के पंख मिलते ही अपने — पराये मिट जाते हैं और जो शेष रह जाता है, वही परमात्मा है। प्रेम के अभाव में तो मनुष्य को अहंकार की पत्थरसी सख्त भूमि पर ही रहना होता है, जहाँ कि घृणा, हिंसा और क्रोध के कंटीले पौधे बहुलता से उगते हैं। लेकिन प्रेम के पंख पाकर उसे इस भूमि पर रहने की कोई भी आवश्यकता नहीं है। फिर तो वह उस लोक में उड़कर जा सकता है जहां सौंदर्य है——— अनन्त सौंदर्य ——— अक्षम सौंदर्य है——— अक्षत सौंदर्य है। इसलिए प्रेम से भरें ——— सबके प्रति और अकारण ——— और उठते-बैठते प्रेम से भरे रहें, सोते जागते प्रेम से भरे रहें ——— प्रेम प्रतिपल हृदय में लहरें लेता रहे — वह आपकी श्वास — प्रश्वास ही बन जावे। फिर तो मंदिर जाने की कोई जरूरत नहीं है। आप उसके मंदिर में पहुंच ही गये। प्रेम ही तो उसका मंदिर है। और शेष सब मंदिर तो पत्थर के हैं और इसलिए ही झूठे हैं। और पत्थरों के मंदिरों में जाने वालों का हृदय भी पत्थर का ही हो जाता हो, तो आश्चर्य नहीं है। पत्थरों के मंदिरों में बातें तो प्रेम की होती हैं, लेकिन फैलती वहां से घृणा ही है। शायद घृणा और हिंसा ने स्वयं के छिपाने के लिए ही प्रेम के वस्त्र पहन लिये हैं। इसलिए मैं कहता हूं कि प्रेम के मंदिर के अतिरिक्त और किसी मंदिर को प्रभु का मंदिर न मानना। मनुष्य प्रेम के मंदिर तक न पहुंच सके, इसलिए ही उनका आविष्कार हुआ है। शैतान इस चेष्टा में सदा से ही श्रमरत है! प्रेम मंदिर है — प्रेम ही सत्य शास्त्र है, कबीर ने कहा है : "ढाई अक्षर प्रेम के पढ़े सो पंडित होय," निश्चय ही जो प्रेम को जान लेता है, उसे फिर कुछ और जानने को शेष नहीं रह जाता है। उसने सब शास्त्र जान ही लिये। और जिसने प्रेम नहीं जाना उसने कुछ भी नहीं जाना। प्रेम से बड़ा कोई ज्ञान नहीं है ——— भाव नहीं है ——— अनुभव नहीं है। प्रेम की आंख उस सबको पढ़ लेती है जो पत्ती-पत्ती पर लिखा है, कण — कण में खुदा हैं, लहर — लहर में छिपा है। मित्र, परमात्मा के हस्ताक्षर हर जगह हैं, फिर आदमियों की किताबों से क्या लेना-देना है। मनुष्य के शब्दों से क्या मिलेगा, और मनुष्य के शब्द कहां पहुँचायेंगें। निश्चय ही मनुष्य के शब्द मनुष्य के ऊपर कभी नहीं पहुंचा सकते। जो मनुष्य से निकलता है, वह मनुष्य के पार नहीं ले जा सकता। मनुष्य के पार जाने

के लिए तो उसे-छोड़कर ही चलना होगा। मनुष्य के शब्द, शास्त्र और सिद्धान्त परमात्मा तक पहुंचने में बाधा हैं। परमात्मा तक चलने के लिए तो उसे पढ़ना होगा, जो कि परमात्मा का है। वह प्रेम में पढ़ा जाता है। मनुष्य के शास्त्रों को पढ़ने को मनुष्य की भाषायें सीखनी पड़ती हैं। परमात्मा का शास्त्र पढ़ने को परमात्मा की भाषा। उसकी भाषा है प्रेम, प्रेम सीखो। यदि परमात्मा तक जाना है तो उसे सीखना ही होगा। परमात्मा की सृष्टि तो चारों तरफ है। वही वही तो है। लेकिन यदि प्रेम न हो तो, न तो उसे देखा जा सकता है और न जाना। प्रेम की आंख मिलते ही एक चमत्कार हो जाता है। जो दिखाई पड़ता था, वह विलीन हो जाता है, और जो नहीं दिखाई पड़ता था वह प्रत्यक्ष। फिर परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होता है।

मैं कहता हूं कि पंडित भटकता है और प्रेमी पा लेता है। हां, प्रेम के ढाई अक्षर वाला पंडित हो तो बात दूसरी है। प्रेम के बिना जीवन में कोई प्रवेश नहीं है। ज्ञान बाहर भटकता है। ज्ञान में दूरी नहीं मिटती। दूरी—तो मिटती है प्रेम में ही। ज्ञान शरीर से गहरा नहीं जाता है, और प्रेम आत्मा से पूर्व नहीं रुकता। इसलिए प्रेम के अतिरिक्त और सब ज्ञान अधूरा और मिथ्या है। प्रेम में जो ज्ञान है, वही ज्ञान है। लेकिन, प्रेम का क्या अर्थ? क्या प्रेम प्रेम रटते रहें, जैसे कुछ पागल राम – राम रटते हैं या कृष्ण–कृष्ण रटते हैं ? नहीं मित्र, शब्द रटने से कुछ भी नहीं होता है। प्रेम को जियें —— प्रेम को जीवन बनायें। वह जीवन्त भाव – दशा बनें तो ही सार्थक है। प्रेम की ऊर्जा सदा स्वयं में जागृत रहे। प्रेम का कोई भी अवसर उसे आप में सोया हुआ न पावे। प्रेम की कोई भी चुनौती खाली न जावे। हर चुनौती पर— हर पुकार पर आपका प्रेम उत्तर दे। और जब चुनौती न हो तब भी प्रेम वैसे ही बहता रहे जैसे दिये से प्रकाश बहता है, फूलों से सुगंध बहती है। उसकी एक शांत और अविछिन्न धारा तो सदा उपस्थित रहनी ही चाहिए। —— निरंतर जब प्रेम हृदय को आंदोलित करता है, तो उसके मार्ग के अवरोध बह जाते हैं वैसे ही जैसे पहाड़ से गिरती कोमल जलधारा के सतत प्रवाह में कठोर पाषाण भी गल जाते और मार्ग से मिट जाते हैं। निश्चय ही प्रेम के मार्ग में बड़ी बाधाएं हैं —— बड़ी कठोर चट्टानें हैं, लेकिन प्रेम की शक्ति असीम है। उस असीम शक्ति को काम करने दें —— सक्रिय होने दें। अत्यंत धीमा और मौन उसका कार्य है लेकिन उस शांत सक्रियता में ही बड़ी बड़ी चट्टानें रेत होकर बह जाती हैं। असल में शोरगुल केवल कमजोरी का लक्षण है। बड़ी शक्तियां

सदा ही मौन में कार्य करती हैं। परमात्मा की सारी सृजनात्मकता कितनी शांत, मौन और शून्य है!

मित्र, प्रेम को एक अवसर दें कि वह आपको आमूल बदल डाले। प्रेम की कीमिया से आपका नया जन्म हो सकता है —— उसका जन्म हो सकता है, जिसकी कि फिर कोई मृत्यु नहीं है। इसलिए ही तो प्रेम मृत्यु के समक्ष भी अभय होता है, क्योंकि वह मृत्यु को जानता ही नहीं है।

सन् १८५७ के गदर में, एक मौन संन्यासी को जो कि अनेक वर्षों से मौन था और कुछ भी नहीं बोला था, अंग्रेजों ने यह समझकर कि यह कोई खुफिया है, विप्लवकारी लोगों का भेदिया है, उसे भालों से मार डाला। वह संन्यासी वर्षों से मौन था, लेकिन आज हंस पड़ा और बोला : "तत्वमसि" – तू भी वही है। तू भी परमात्मा है। जिसने उसकी छाती में भाला छेदा था, उससे ही उसने यह कहा था। और यह कहकर उसने अपने हत्यारे को हृदय से भी लगा लिया था। उस संन्यासी की आंखों से मृत्यु के क्षण में भी प्रेम और प्रार्थनाएं बरस रही थीं। उसने स्वयं को शब्दों से और स्वयं से तो खाली किया था लेकिन प्रेम से जरूर हृदय भर लिया था। इसलिए ही तो भाले के लगते ही वह प्रेम फूट-फूटकर बाहर बहने लगा था। उसका हृदय सत्रह साल से मौन नहीं था, सत्रह साल से प्रेम से भरा था। प्रेम का एक झरना ही बन गया था। और इसलिए ही तो आज अपने हत्यारे में भी उसे शत्रु नहीं दिखाई पड़ रहा था। उसे उसमें भी अपने प्यारे के ही दर्शन हो रहे थे। प्रेम ने शत्रु को मित्र और मृत्यु को भी मोक्ष बना दिया था। प्रेस अंधकार को आलोक बना देता है। प्रेम विष को अमृत में परिणत कर देता है। प्रेम से बड़ा क्या कोई और भी जादू है? नहीं, प्रेम से बड़ा और कोई जादू नहीं है —— प्रेम से बड़ा और कोई चमत्कार नहीं है। प्रेम सब कुछ बदल देता है क्योंकि प्रेम हमारी दृष्टि बदल देता है। और दृष्टि ही सृष्टि है। हमारी दृष्टि ही हमारा जगत् है। इसलिए ही तो जैसी दृष्टि हो जाती है, वैसा ही सब हो जाता है। प्रेम है दृष्टि में तो सब ओर प्रियतम है। और प्रेम नहीं है तो सब ओर शत्रु हैं। प्रेम है तो परमात्मा है। प्रेम नहीं है तो परमात्मा नहीं है। एक गांव में सुबह सुबह एक यात्री पहुंचा। गांव के बाहर ही द्वारपर एक बूढ़ा बैठा था। उससे उस अजनबी ने पूछा : "क्या मैं पूछूं कि इस गांव के लोग कैसे हैं? मैं इस गांव में रुकना चाहता हूं। मैंने अपना गांव छोड़ दिया है।" उस वृद्ध ने एक क्षण उसे देखा और कहा : "क्या मैं भी पूछ सकता हूं कि उस गांव के लोग कैसे थे, जिसे

तुमने छोड़ दिया है ?" यह प्रश्न सुनते ही उस आदमी की आखें क्रोध और घृणा से भर आई और उसने कहा : "उनका स्मरण करते भी क्रोध आता है। उन दुष्टों का नाम भी मेरे सामने मत लें। उनकी वजह से तो मुझे उस गांव को छोड़ना पड़ा। उस गांव जैसे दुष्ट लोग पृथ्वीपर और कहीं भी नहीं हैं।" वह बूढ़ा बोला : "मैं बहुत निराश हूं। इस गांव के लोग भी उस गांव से अच्छे नहीं हैं। इस गांव में भी वैसे ही दुष्ट लोग हैं। तुम रहने के लिए कोई और गांव चुन लो।" वह आदमी गया भी नहीं था कि एक दूसरे यात्री ने आकर फिर उसी बूढ़े से वही पूछा : इस गांव के लोग कैसे हैं ? मैं इस गांव में बसना चाहता हूं। मुझे अपने गांव को छोड़ देना पड़ा है। उस बूढ़े ने पूछा कि इसके पहले कि मैं कोई उत्तर दं, तुमसे पूछ लूं कि जिस गांव को छोड़ा है उस गांव के लोग कैसे थे ? वह आदमी बोला : मत पूछो उनकी बात। उसकी आंखों में प्रेम के आंसू आ गये। उसने कहा इतने भले लोग मैंने कहीं नहीं देखे जितने उस गांव के थे। लेकिन कुछ मजबूरियों में मुझे उस गांव को छोड़ना पड़ा। उस बूढ़े ने कहा : "खुशी से आओ, स्वागत है तुम्हारा। इस गांव के लोगों को तुम उस गांव के लोगों से भी अच्छा पाओगे। यहां भी बड़े अच्छे लोग हैं।" और उस बूढ़े ने आगे कहा : "किसी भी गांव में जाओ हर गांव में तुम्हारा स्वागत होगा। असल में हर गांव में तुम्हारे गाँव से अच्छे लोग तुम्हें भिल जायेंगे। जिसकी जैसी दृष्टि होती है वैसी ही दुनिया हो जाती है !" यह दुनिया कुछ है नहीं। हमारी दृष्टि के सिवाय और कुछ भी नहीं है। अगर प्रेम की दृष्टि हो तो चारों तरफ प्रेमपूर्ण हृदय स्पन्दित होते दिखाई पड़ेंगे। और जिस दिन सारा जगत प्रेम से स्पन्दित होता दिखाई पड़ने लगे, उस दिन समझना प्रभु के निकट पहुँचना हो गया है। क्योंकि प्रभु पर पहुंचने का अर्थ नहीं है कि वहां कोई रामचन्द्र जी धनुषबाण लिये खड़े होंगे। प्रभु पर पहुँचने का मतलब नहीं है कि वहां कोई कृष्णमुरारी बांसुरी बजाते होंगे। प्रभु पर पहुंचने का मतलब नहीं है कि कोई सफेद दाढ़ीवाला बूढ़ा आदमी खड़ा हुआ जगत का नियंत्रण करता होगा। ईश्वर पर पहुंचने का अर्थ है ऐसी अनुभूतिपर पहुंच जाना जहां सारा जग़त मात्र पदार्थ नहीं बस परमात्मा है, वस्तु नहीं, शक्ति है। ईश्वर पर पहुंचने का अर्थ है परम आनन्द पर पहुंच जाना। ईश्वर पर पहुंचने का अर्थ है, सत्य पर, सौन्दर्य पर, अमृतत्व पर पहुंच जाना। परमात्मा व्यक्ति नहीं, अनुभूति है।

परमात्मा आनन्द है। वह आनन्द का अपरिसीम सागर है।

लेकिन इससे पहले कि वह सागर मिले, उस सागर का पहला अनुभव स्वयं के भीतर पैदा कर लेना होता है। और उस दिशा की ओर ले जाने वाले दो सूत्रों की मैंने चर्चा की। पहला सूत्र है स्वयं के प्रति प्रेम, दूसरा सूत्र है अन्यों के प्रति प्रेम। और अब तीसरे सूत्र पर विचार करें। तीसरा सूत्र है परमात्मा के प्रति प्रेम। इस तीसरे सूत्र में पहले दो सूत्रों का अतिक्रमण करना है। पहले सूत्र का अतिक्रमण है दूसरे सूत्र में, और तीसरे सूत्र में दोनों का अतिक्रमण है। पहले सूत्र में मान लिया है कि मैं हूं। वह सत्य तो नहीं है, लेकिन एक तथ्य है। अज्ञान में वह सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य है। उससे जागा तो जा सकता है, लेकिन भागा नहीं। जो उससे भागते हैं, वे सदा उसे साथ ही पाते हैं। क्योंकि छायाओं से भागना संभव नहीं है। भागने से वे और पीछा करती हैं। इसलिए, अस्मिता को स्वीकार कर प्रेम की खोज करनी चाहिए। प्रेम बढ़ेगा तो अस्मिता जायेगी ही। छाया को स्वीकार कर जो प्रकाश को खोजता है, वह एक दिन सहज ही सभी भांति की छायाओं से मुक्त हो जाता है। छाया और प्रकाश का जो संबंध है, वही अहंकार और प्रेम का है। प्रेमका प्रकाश आते ही गहन का अहंकार का अंधकार तिरोहित हो जाता है। मैं को मानने से ही पर का, अन्य का जन्म होता है। मैं—— मैं हूं, इसलिए ही तो अन्य अन्य हैं। इसलिए, प्रेम के प्रकाश में मैं के साथ ही साथ पर का, अन्य का भाव भी खो जाता है। अंततः तो प्रेम ही शेष रह जाता है। न मैं, न तू, बस प्रेम ही। इस प्रेम की दशा को ही मैं परमात्मा के प्रति प्रेम कहता हूं। वस्तुतः वह किसी के भी प्रति नहीं है। न किसी की ओर से ही है। वह तो बस है। इस शुद्ध प्रेम की अवस्था को ही मैं परमात्मा के प्रति प्रेम कहता हूं। परमात्मा के प्रति प्रेम का क्या अर्थ होगा? परमात्मा के प्रति प्रेम का अर्थ होगा कि मैं जो निरन्तर अपने को मैं समझे हुए हूं कि मैं कुछ हूं, इस भ्रम को तोड़ देना। इससे झूठी बात और कोई भी नहीं है। आप बिलकुल नहीं हो। आप की व्यक्तिगत कोई सत्ता नहीं है। यह स्वांस मेरे भीतर आती है और चली जाती है और मैं सोचता हूं मैं स्वांस ले रहा हूं तो मैं गलती में हूं। क्योंकि जिस दिन स्वांस नहीं लौटेगी उस दिन क्या मैं उसे ले सकूंगा? मैं सोचता हूं कि मैं जी रहा हूं तो मैं गलती में हूं क्योंकि जिस दिन जीवन मेरे भीतर से चला जायेगा तो क्या एक क्षण को भी मेरा आपके बीच रुकना सम्भव होगा? मैं सोचता हूं कि मैंने जन्म लिया है तो मैं भूल में हूँ, और सोचता हूं कि मैं मर जाऊंगा तो मैं गलती में हूँ। न तो मैंने जन्म लिया है और न मैं मरूंगा। न स्वांस मेरी है,

न स्वांस पर नियंत्रण मेरा है। न जीवन मेरा है, न मृत्यु मेरी है। मेरे भीतर से किसी का खेल हो रहा है, मेरे भोतर से कोई खेल रहा है। मेरे भीतर से कोई बोल रहा है। मेरे भीतर से कोई चल रहा है। मेरे भीतर कोई जन्म लेता है और मेरे भीतर से कोई विलीन हो जाता है, निकल जाता है। मैं केवल एक भूमिमात्र हूं। मैं केवल एक क्षेत्र मात्र हूं, जहां कोई आता है और जहां कोई चला जाता है। मैं केवल एक बांसुरी की तरह हूं जिससे कोई गीत गाता है। कबीर ने कहा है कि मैं बांस की पोंगड़ी से ज्यादा नहीं हूं। परमात्मा की ओर प्रेम के गीत तेरे हैं। इस बात को जो देख पाएगा, समझ पाएगा और पहली दो सीढ़ियों को जो पार कर जाएगा उसे यह बात समझनी कठिन नहीं है, यह बहुत सरल है, यह अत्यन्त सरल है। इस जगत में व्यक्ति जैसा कुछ भी नहीं है। इस जगत में जो कुछ है, सब संयुक्त है और इकट्ठा है। यहां अलग अलग कोई भी नहीं है। जो स्वांस जिसको मैं अपनी समझ रहा हूं अरबों अरबों लोगों की स्वांस रह चुकी है। और जिस स्वांस को मैं छोड़ रहा हूं वह अभी अरबों लोगों की स्वांस रहेगी। इस शरीर में जो कण इकट्ठे हुए हैं उससे पहले न मालूम कितने-कितने शरीरों में इकट्टे हुए होंगे। वे मेरे कैसे हो सकते हैं और कल जब मैं उस शरीर को छोड़ दूंगा तो फिर न मालूम कितनों के हो जायेंगे। और अभी भी जब मैंने नहीं छोड़ा है तब भी कोई शरीर ठहरे हुए थोड़े है? शरीर तो रोज बदल रहा है। रोज आप नए कण शरीर में ले जा रहे हैं और पुराने कण बाहर निकाल रहे हैं। जो कण आप शरीर के भीतर ले जा रहे हैं, वे दूसरों के शरीरों से आ रहे हैं। हजारों लोगों के शरीरों में, हजारों प्राणियों, करोड़ों प्राणियों के शरीरों में मेरा शरीर रह चुका है और आगे भी रहेगा। वह मेरा कैसे हो सकता है। और न ही मन मेरा है। क्योंकि उसके विचार – अणु भी शरीर अणुओं की भांति ही आजा रहे हैं। मेरा कुछ भी नहीं है। मेरा कुछ भी नहीं है। यह भाव परमात्मा के प्रति प्रेम की शुरूआत है। धीरे धीरे जब देखेंगे कि मेरा कुछ भी नहीं है जब यह भाव गहरा होगा मेरा कुछ नहीं है, तब आपको एक दिन दिखेगा कि अगर मेरा कुछ भी नहीं है तो मैं कैसे हो सकता हूं? जब मेरा कुछ भी नहीं है तो मैं कैसे हो सकता हूं। मेरा कुछ है इसी भाव से धीरे धीरे यह भ्रम पैदा होता है कि मैं हूं और इसी लिए हम परिग्रह को इतना प्रेम करते हैं। जितना बड़ा मकान हो उतना बड़ा मैं हो जाता हूं। जितना बड़ा पद हो उतना बड़ा मैं हो जाता हूँ– जितनी बड़ी सम्पत्ति हो उतना बड़ा मैं हो जाता हूं। जितना बड़ा अधिकार हो

उतना बड़ा मैं हो जाता हूं। क्यों? क्योंकि जितनी मेरी चीजें बढ़ जाती हैं, उतना मेरा मैं बड़ा हो जाता है। मैं परिग्रह से बढ़ता है। मैं मेरे के साथ बढ़ जाता है। मेरे की जो सीमा है, वही मैं की सीमा बन जाती है। इसलिए यदि मेरे का भ्रम टूट जाये तो मैं को टिकने का कोई भी आधार नहीं रह जाता है। यदि मेरा कुछ नहीं है तो मैं कहां हूं? मेरा विलीन हो तो मैं निसत्व हो जाता है ——— "मैं" शून्य हो जाता है। क्या मैं के भ्रम को तोड़ने के लिए हम वस्तुओं से भागें और उनका त्याग करें? यह मुझसे रोज रोज पूछा जाता है। मैं कहता हूं : नहीं, वस्तुओं को छोड़ने, न छोड़ने की बात नहीं है। बात है उनके प्रति "मेरे" के भाव की। वह भाव तो छोड़ने पर भी बना रह सकता है। वह तो छोड़ने में ही मौजूद है इसलिए ही तो तथाकथित त्यागी हिसाब रखते हैं कि उन्होंने क्या क्या छोड़ा है, और छोड़ी गई वस्तुओं के मूल्य और मात्रा पर ही तो उनके त्याग का भी बड़ा या छोटा होना निर्भर करता है। एक साधु ने मुझसे कहा था : "मैंने लाखों रुपयों पर लात मारी है।" मैंन उनसे पूछा : "यह लात कब मारी? वे" बोले : "कोई ३० वर्ष हुए।" निश्चय ही सुनकर मुझे हँसी आ गई और मैंने उनसे निवेदन किया था :" महाराज, लात ठीक से लग नहीं पाई, अन्यथा क्या ३० वर्षों में भी वे लाखों रुपये भूले नहीं जा सकते थे!"

इसलिए, प्रश्न त्याग का नहीं है प्रश्न बोध का है। अबोध में जो त्याग है, वह भी अहंकार को भरने का कारण हो जाता है। यह मानना कि चीजें मेरी हैं गलती है। गलती यह नहीं है कि चीजें हैं। गलती यह है कि उन्हें मानना कि वे मेरी हैं। और इस गलती के दो रूप हैं — एक तो भोगी का रूप है जो कहता है कि मेरी हैं। मैं भोगूंगा। और एक त्यागीका रूप है, जो कहता है कि मेरी हैं, मैं छोड़ूंगा। लेकिन दोनों मानते हैं कि मेरी हैं। ज्ञान बिल्कुल तीसरी बात कहता हैं। वह कहता है कि जो है, सर्व का है। सब परमात्मा का है। मेरा तेरा कुछ भी नहीं है। हम स्वयं भी अपने नहीं हैं। मैं हूं ही नहीं। अस्मिता भ्रम है, सब हो रहा है और उस होने में मैं भी एक हिस्सा हूं, एक हिस्सा मात्र। अगर यह प्रतीति और स्मरण हो तो जीवन हवा-पानी की भांति सरल और सहज हो जाता है। ऐसा जीवन ही त्याग का जीवन है। ऐसा जीवन ही प्रेम का जीवन है। परमात्मा के प्रति प्रेम का अर्थ है : अहंकार विसर्जन।

मलूक ने कहा है कि पंछी काम नहीं करते और अजगर चाकरी नहीं करता

और सबका दाता राम है। यह बात बड़ी गलत समझी गयी है क्योंकि लोग समझे कि मलूक ने कहा है कि कोई कुछ मत करो, पर यह तो नहीं कहा है। पंछी सुबह से लेकर शाम तक काम करते हैं। घोंसले बनाते हैं। दाना चुगते हैं। सब तो करते हैं लेकिन फिर भी वह काम नहीं करते हैं क्योंकि मलूक का ख्याल है कि उन्हें यह ख्याल नहीं कि हम हैं। उन्हें यह ख्याल नहीं कि हम हैं। उन्हें यह ख्याल नहीं कि मैं हूं। काम तो हो लेकिन मैं हूं का भाव चला जाये परिग्रह का भाव चला जाये कुछ भी मेरा है यह भाव चला जाय। जिस जिस मात्रा में यह स्थिति बढ़ेगी, उस उस मात्रा में प्रभु का प्रेम विकसित होता है। जिस दिन यह भाव पूरा हो जाता है और लगता है मैं नहीं हूं, जिस दिन लगता है मैं नहीं हूं, बस उसी दिन वह क्रान्ति हो जाती है जिसकी कि मैं बात करता हूं।

एक सूफी गीत है : प्रेयसी के द्वार पर एक प्रेमी ने दस्तक दी है और जाकर जोर से दरवाजा हिला दिया है और पीछे से पूछा गया है कौन हो? उसने कहा, "मैं हूं तेरा प्रेमी।" तो भीतर सन्नाटा हो गया। फिर भीतर चुप्पी हो गयी। उसने दुबारा भड़भड़ाया — और कहा, "उत्तर दो।" घर ऐसा सूना मालूम देने लगा जैसे कोई है ही नहीं। भीतर से उत्तर आया : "वापस लौट जाओ। इस घर में दो के रहने के लायक जगह नहीं है।" प्रेमी वापस लौट गया और बरस आए और गए, वर्षा आयी, धूप आयी, शीत आयी और गयी। चांद उगे और विलीन हो गए और न मालूम फिर कितने दिन बीते। दुबारा वह प्रेमी आया और उसने द्वार पर दस्तक दी और भीतर से पूछा गया — "कौन हो?" उसने कहा, "अब तो तू ही है!" और गीत कहता है कि फिर प्रेम के बंद द्वार खुल गये। यदि मैं इस गीत को गाता तो अभी द्वार नहीं खोल सकता था, क्योंकि मुझे लगता है यह ख्याल कि "तू है" अभी मैं के मौजूद होने की सूचना है। मैं तो प्रेमी को एक दफा और वापस लौटा देता। मेरी कहानी अभी थोड़ी और आगे जाती। और मैं कहता कि जैसे ही उसने कहा कि तू है कि फिर सन्नाटा हो गया। और जब कोई उत्तर नहीं आया तो उसने पूछा कि अब तो द्वार खुल जाये अब तो मैं नहीं हूं, "तू ही" है। लेकिन भीतर से कहा गया कि जिसे अभी अकेले का पता है उसे अभी दूसरे का भी पता है। जिसे अभी एक का बोध है उसे अभी दो का भी बोध है। जिसे अभी तू का स्मरण है उसे अभी मैं का भी स्मरण है। और इस मकान में तो केवल एक ही समा सकता है। प्रेमी फिर वापस लौट गया। और फिर

वर्षा आयी और फिर धूप आयी और फिर चांद उगे और गिरे। सूरज निकला और बुझा लेकिन प्रेमी फिर दुबारा नहीं आया। क्योंकि उसे ख्याल ही भूल गया कि कहीं जाना है और तब प्रेयसी स्वयं ही उसके पास गयी और उसने कहा : "प्रिय, अब आओ द्वार खुल गए हैं!" जैसे ही 'मैं' गिर जाता है वैसे ही 'तू' गिर जाता है और जो शेष रह जाता है, वही है— वही है। वह, जिसकी कि खोज है। मैं और तू के गिर जाने पर जो शेष है उसका नाम ही परमात्मा है। जहां मैं और तू गिर जाते हैं, वहां जो शेष रह जाता है वही है सनातन सत्ता, वही है अनादि अनन्त अस्तित्व। वह जो एक सागर मात्र है चेतना का, उसका नाम ही परमात्मा है। उसे जाना जा सकता है। उसमें जिया जा सकता है उसमें हुआ जा सकता है। उसमें हम हैं उसमें ही हम खड़े हैं, उसमें ही हम जी रहे हैं, लेकिन हमें उसका बोध नहीं, पता नहीं, स्मृति नहीं, क्योंकि हम तो अपने हम से ही भरे हैं और उसके आने योग्य अवकाश भी तो हमने नहीं छोड़ा है। मैं से हम इतने भरे हैं कि वह शून्य नहीं हो पाता है। मैं से जो शून्य होता है, वह उससे पूर्ण हो जाता है। शून्य हो जाओ — मैं से शून्य हो जाओ। इसके लिए ही तीन सूत्र मैंने कहे। प्रेम में जो उतरता है, वह शून्य में ही उतरता है। प्रेम में सीढ़ी सीढ़ी बढ़ो। प्रेम में बूंद बूंद मिटो। और अंततः खो जाओ, वैसे ही जैसे बूंद सागर में खो जाती है। "क्या आपको ज्ञात नहीं कि बूंद स्वयं को खोकर सागर हो जाती है?"

ज्ञान गंगा

(चर्चाओं से)

संकलन : डॉ. गोविन्द दास

१—चरित्र विकास की आधारशिला :

एक बड़ी प्रचलित उक्ति है : "धन गया तो कुछ नहीं गया, स्वास्थ्य गया तो कुछ गया, किंतु यदि चरित्र गया तो सब कुछ गया।" धन का जाना इसलिए कुछ नहीं माना जाता, क्योंकि वह सहज ही पुनः उपार्जित किया जा सकता है। स्वास्थ्य का जाना, इसलिए कुछ जाना समझा जाता है कि उसकी पुनः उपलब्धि सहज में ही नहीं हो सकती। और चरित्र का जाना, सब कुछ जाना इसलिए है, क्योंकि खोया हुआ चरित्र पुनः पाना अति दुर्लभ है।

और, मनुष्य ने क्या इस चरित्र को ही नहीं खो दिया है ?

हमारी इस सदी को बहुत से नाम दिए गये है। किन्तु बाद के इतिहासकार इसे मानवीय चरित्र के ह्रास की ही सदी कहेंगे। व्यष्टि और समष्टि ने इस काल में जिस प्रकार चरित्र को खोया है, इसके पूर्व शायद कभी नहीं खोया था। अतः मानवीय चरित्र ह्रास का विशेषण ही इस सदी को सबसे उत्तम व्याख्या करता है। इससे अधिक और कोई बात इस सदी के प्रति लाक्षणिक नहीं है।

वाष्प शक्ति की उपलब्धि के पश्चात नाना प्रकार की कलें ईजाद हुई हैं। कितने प्रकार का और किस कोटि का आधिभौतिक उत्पादन बढ़ा, उसकी गणना करना भी कठिन है। उसकी छाया में खाना – पीना और मौज से रहना ही जीवन का आदर्श बन गया है। जिन राष्ट्रों और व्यक्तियों के पास अधिक आधि-

भौतिक साधन और आधिभौतिक शक्ति है, वे राष्ट्र और व्यक्ति ही सबसे अधिक उन्नत माने जाने लगे हैं। ये उपलब्धियां ही विकास का मानदण्ड हो गयी हैं। परन्तु अन्ततः मनुष्य पदार्थ के जगत् में जो प्राप्त करता है, उन उपलब्धियों का मूल्य क्या होता है, इसका पता भी हमे इस समय के संघर्ष, कलह, विप्लव और युद्धों से लगता है। अतः मनुष्य में जो मानवीय चेतना है, उसके विकास के बिना ये आधिभौतिक उपलब्धियां नाश का आयोजन भी बन जाती है। इस दृष्टिकोण से विचार किया जाये, तो हमें जान पड़ेगा कि हम बहुत दरिद्र हो गये हैं। मानवीय चेतना ने हमारे द्वारा जीवन और चरित्र के कोई नये शिखर उपलब्ध नहीं किए हैं। इतना ही नहीं इसके विपरीत मानव जिन सीढ़ियों को उपलब्ध कर चुका था, उन्हे भी हमने खो दिया है। इस केन्द्रीय दिशा में विकास नहीं, ह्रास ही हुआ है। इस दृष्टि से विचार किया जाय तो अतीत स्वर्णिम मालूम होता है और भविष्य अंधकाराच्छन्न। इस दुखद तथ्य के जो कारण है, वे अत्यधिक विचारणीय हैं। क्योंकि उनके विचार और निराकरण से ही मनुष्य के भग्नमंदिर की आधार शिला पुनः रखी जा सकती है।

इस चरित्र ह्रास के आधारभूत कारणों में सबसे प्रधान कारण यह है कि हमने सभी प्रकार के जीवन दर्शन को बिलकुल ही खो दिया है। कभी ऐसा मनुष्य खोजना कठिन था, जिसका कोई न कोई जीवन दर्शन न हो। आज ऐसा मनुष्य खोजना क्रमशः कठिन होता जा रहा है, जिसका कोई जीवन – दर्शन हो। शायद हमारी दृष्टि ऐसी है कि जीवन ही यथेष्ट है, जीवन दर्शन की क्या आवश्यकता? पर स्मरण रहे कि मनुष्य के लिए केवल जी लेना ही काफी नहीं हो सकता। जब भी कोई युग ऐसा आग्रह करेगा तो तत्क्षण उस युग के मनुष्य के जीवन का तल पशुओं के निकट पहुंच जायेगा। यह हो सकता है कि उसका आजीविका तल उन्नत होता जाये। जैसा इस काल में हुआ भी है। और इसी लिए इस युग का आदर्श हो गया है भौतिक आवश्यकताओं को बढ़ाते जाना किन्तु इससे जीवन तल ऊंचा नहीं हो सकता। मनुष्य के लिए आजीविका को ही जीवन समझ लेने से बड़ी भूल क्या हो सकती है? ईसा का एक वचन स्मरणीय है—"मनुष्य केवल रोटी पर नहीं जी सकता।" रोटी आवश्यक है, इससे हम इन्कार नहीं करते, इसी लिए हम आधिभौतिक विकास के विरुद्ध नहीं है। परन्तु यह विकास ही जीवन का आदर्श हो जाय तो जीवन एकांगी हो जाता है। अतः रोटी ही काफी नहीं है। मनुष्य के लिए आजीविका है, आजीविका के लिए ही मनुष्य नहीं। यह तो समझ में आता है कि हम जीने के लिए आजीविका चाहें। लेकिन यह

समझ में नहीं आता कि हम आजीविका के लिए ही जीने लगें। जब कोई जीवन दर्शन नहीं होता, तब वर्तमान समय के सदृश्य दुर्घटना—स्वाभाविक हो जाती है। उदात्त लक्ष्यों को पाने की प्रेरणा से ही मानवीय चेतना स्वाभाविक ऊर्ध्वमुखी होती है। यदि यह भी मान लिया जाय कि ईश्वर जैसी कोई सत्ता नहीं है तथा मोक्ष जैसी कोई अवस्था नहीं, तो भी उन्हें पाने की प्रेरणा से आन्दोलित मानवीय चेतना क्रमशः ऊपर उठती है, इस से इन्कार नहीं किया जा सकता। कोई चाहे तो इन सत्यो को स्वप्न कह सकता है। किन्तु दिव्यता के स्वप्न भी मनुष्य को पशुता से उठाने में समर्थ होते हैं। जीवन दर्शन के अभाव ने मनुष्य से उदात्त स्वप्न छीन लिये हैं। जिसका यह अपरिहार्य परिणाम हुआ है कि उसके ऊर्ध्व-गमन के सब द्वार बन्द हो गये। जब कोई शक्ति आरोहण नहीं कर पाती तब अवरोह आरम्भ हो जाता है। सागर की जो लहर ऊपर उठना बन्द कर देती है, वह अनिवार्यतः नीचे गिरने लगती है। जो सरिता सिन्धु की ओर जाना भूल जाती है, उसका कुंठित होकर डबरों में परिणत हो जाना स्वाभाविक है।

हमारी दृष्टि में मनुष्य को दिव्यता के स्वप्न पुनः देना आवश्यक हो गया है। हम तो उन स्वप्नों को वास्तविक सत्यों से भी अधिक सत्य मानते हैं। क्योंकि वे मानवीय चेतना में अद्भुत परिवर्तन करने में समर्थ हैं। और परिवर्तन केवल वही कर सकता है, जो सत्य हो। यह दूसरी बात है कि हमारे चर्म—चक्षु उसे अनुभव न कर पाते हों। विज्ञान भी ऐसे सत्यों को स्वीकार करता है। परमाणु के अन्तिम विभाजन से उपलब्ध विद्युतीकरण दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, मात्र उनके परिणाम परिलक्षित होते हैं। इसी कारण उनकी सत्ता स्वीकृत है। परमात्म शक्तियां तो और अधिक सूक्ष्मातिसूक्ष्म हैं। पर उनके लिए पिपासित चेतना में जो क्रान्ति घटित होती है, उसे तो अन्धे—से अन्धा व्यक्ति भी अनुभव कर सकता है। बुद्ध, महावीर, ईसा, लाओत्से आदि में जिस दिव्य ऊर्जा का आविर्भाव हुआ, वह क्या हमें दिखाई नहीं पड़ती ? ये व्यक्ति सामान्य मनुष्य नहीं रह गये थे। उनके भीतर कोई क्रान्ति घटित हुई थी और उसके परिणाम उनके चरित्र एवं उनके जीवन में भी प्रकट हुए। इसे तो कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि उनमें हमें साधारण मनुष्य से किसी ऊपर की सत्ता के दर्शन हुए हैं। जीवन को और जीवन की समस्त शक्तियों को जब तक किसी उदात्त उद्देश्य के प्रति समर्पित नहीं किया जाता, तब तक मानव की प्रसुप्त शक्तियां जागती ही नहीं है। और न उसके जीवन में आरोहण का आरम्भ होता है। इसलिए मनुष्य के पुनःनिर्माण के निमित्त हमारा यही नारा है कि उसे कोई

उदात्त जीवन–दर्शन दिया जाय। केवल जीवन यथेष्ट नहीं, जीवन–दर्शन भी आवश्यक है। जीवन दर्शन के प्रकाश में ही जीवन का सच्चा रहस्य प्रकट होता है।

---

२ धर्म और विवेक

मनुष्य ने सदा से ही जीवन में पूर्णता लाने का यत्न किया है। यह पूर्णता प्राप्त करने में वह जो यत्न करता रहा है, वही धर्म है। धर्म के सदा दो रूप रहे हैं—एक वास्तविक धर्म और दूसरा लौकिक धर्म। जिस से समष्टि का सम्बन्ध रहता है, वह लौकिक धर्म कहा जाना चाहिए। वास्तविक धर्म का व्यष्टि से ही सम्बन्ध रहता है। लौकिक धर्म का ही पतन होता है और उस दृष्टि से हम जिसे धर्म कहते हैं, उसकी जड़े हिल गयी है। जो उसके पक्ष में खड़े हैं, उनके चेहरों पर पराजय के चिन्ह हैं। इस धर्म और विज्ञान के बीच संघर्ष प्रारम्भ हुआ था। उसमें विज्ञान विजेता हो गया है। यह विजय कितनी दूर तक हुई है, इसका पता इस बात से लगता है कि धर्म विरोध के स्थान पर धर्म के प्रति उपेक्षा हो गयी है। विरोध से भी उपेक्षा की भावना कहीं गहरी और व्यापक है। क्योंकि यदि किसी बात या वस्तु विरोध हो तो उसकी प्रतिक्रिया भी होती है। एक ओर यदि विरोध होता है तो दूसरी ओर समर्थन। परन्तु जब उपेक्षा होती है, तब समर्थन भी समाप्त हो जाता है। विज्ञान धर्म को अब इतना मूल्य देने को राजी नहीं है कि, वह उसका विरोध करे।

जिस लौकिक धर्म को ही धर्म माना जाता है, उस के सबंध में यह स्थिति इसीलिए हुई है कि उस धर्म का विवेक से सम्बन्ध छूट गया है। विज्ञान विवेक पर खड़ा है और इस धर्म ने अन्ध श्रद्धा की शरण ले ली है। उसने जानने की जगह मानने को आधार बना लिया है। स्वभावतः इसका यह परिणाम हुआ कि जिसमें थोड़ा भी विचार या विवेक था वे जाने या अनजाने में विज्ञान के पक्ष में चले गये। ऐसे धार्मिक क्षेत्र में प्रवेश के लिए उनके पास मार्ग ही नहीं रहा। उन्होंने पाया कि इस प्रकार के धर्म के द्वार उनके लिए बन्द हैं। अन्ध-विश्वास ही जिस धर्म तक ले जाने का मार्ग रह गया हो, विचार और विवेक की जहां कोई गति न हो, वहां विवेक, शील यदि न जाये तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं रह जाती। इस प्रकार देखने पर धर्म की पराजय सहज ही समझ में आ सकती है, और यहीं इस सत्य के भी दर्शन हो जायेंगे

कि विज्ञान की विजय यथार्थ में विज्ञान की नहीं, विवेक की विजय है। और धर्म की पराजय, धर्म की नहीं, अन्ध श्रद्धा की पराजय है। और यह हमें अकल्याणकारी प्रतीत नहीं होना चाहिए। यह ठीक ही है कि विवेक जीते और अविवेक हारे। मनुष्य का मंगल इसी में निहित है। दुःख का कारण अविवेक का हार जाना नहीं। दुःख का कारण धर्म का अविवेक से संबंधित हो जाना है, जबकि वस्तुतः वास्तविक धर्म का अविवेक से न कोई सम्बन्ध है और न हो सकता है। सच्चे धर्म की प्रतिष्ठा तो परम विवेक के जागरण में है।

मनुष्य का विकास अज्ञान से ज्ञान और विश्वास से विवेक की ओर है। विकास की एक घड़ी आयेगी जब विश्वास को कोई स्थान न रह जायगा। विवेक जब पूर्ण होगा तब विश्वास का शून्य हो जाना स्वाभाविक है। क्योंकि विश्वास में हम प्रायः उन बातों को मानते हैं, जिन्हें हम जानते नहीं, किंतु जान लेने पर उन्हें मानने और न मानने का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। विश्वास और अविश्वास दोनों ही अज्ञान के क्षेत्र हैं। ज्ञान का क्षेत्र है जानना। वहां विश्वास या अविश्वास का कोई सवाल ही नहीं उठता। जिन्होंने सत्य को जाना है उनसे पूछिये, तो वे यह नहीं कहेंगे कि हम मानते है, कहेंगे हम जानते है। वह उनकी आस्था नहीं, उनका दर्शन है। वह उनकी धारणा और मान्यता नहीं, उनका साक्षात् है। इस विचार सरणी को ध्यान में रखा जाये तो तथाकथित आस्था–निर्भर धर्म की पराजय विवेक–आधारित वास्तविक धर्म के जन्म की पूर्वपीठिका मालूम होगी; और जो संक्रमणकालीन पीड़ा हमें अनुभव हो रही है, वह प्रसव–पीड़ा दिखाई पड़ेगा। श्रेष्ठ के जन्म के लिए अश्रेष्ठ को नष्ट हो जाना पड़ता है। अन्धकार उस समय तिरोहित होता है जब प्रकाश होने लगता है। विज्ञान के माध्यम से विवेक की जीत, इस संबंध में एक बड़ा संकेत है। उसने स्पष्ट कर दिया है कि धर्म को भी अन्धश्रद्धा से मुक्त होकर विवेक में अपनी जड़ें खोजनी होंगी। वास्तविक धर्म तो अपनी आन्तरिकता में सदा विवेकपूर्ण रहा ही है। लोकधर्म ही विज्ञान से पराजित हो रहा है। सच्चा धर्म तो विज्ञान की विजय में भी जीता है, क्योंकि विवेक की कोई भी विजय उसकी ही विजय है।

वास्तविक धर्म विज्ञान का विरोधी नहीं, वरन् स्वयं मनुष्य की चेतना का परम विज्ञान है। पदार्थ के जगत् में विवेक का उपयोग विज्ञान को जन्म देता है और चेतना के लोक में विवेक का अनुसंधान धर्म को। विवेक जब बाहर देखता है, तो विज्ञान उपलब्ध होता है और जब वह भीतर देखता है तो धर्म।

विवेक बाहर जीत गया है। उसे भीतर भी जीतना है। कृष्ण, महावीर, बुद्ध और ईसा इनमें हम विवेक को भीतर भी जीता हुआ देखते हैं। परन्तु इससे एक भेद और स्पष्ट होगा कि बाहर के जगत् में विवेक की विजय सार्वजनिक हो सकती है लेकिन भीतर के जगत् में उसकी विजय तो व्यक्तिगत ही होगी। हां, इस व्यक्तिगत विजय का सार्वजनिक प्रभाव अवश्य पड़ता है। वास्तविक धार्मिक राज्य को तो स्वयं ही जीतना पड़ता है। आन्तरिकता व्यक्तिगत है और वाह्यता सार्वजनिक। इसलिए विज्ञान का क्षेत्र सामूहिक है, धर्म का नहीं। लेकिन जो बाहर है यदि हम उस सबको जानकर ही संतुष्ट हो जायें और स्वयं से अपरिचित रह जायें तो वह ज्ञान की चरम उपादेयता नहीं है। इतना ही नहीं, आत्मज्ञान के अभाव में यह वाह्य ज्ञान घातक भी हो सकता है, जैसा इस समय हो रहा है। क्योंकि इस स्थिति में उपलब्ध शक्ति यथार्थ में अज्ञान के हाथ में होगी और अज्ञान के हाथों में शक्ति होने से अधिक बड़ी न कोई दुर्घटना हो सकती है और न दुर्भाग्य। अकेला विज्ञान इसी लिए आत्मघातक सिद्ध हो रहा है। विज्ञान ने शक्ति दी है। यह विवेक का आंशिक और अधूरा उपयोग है। धर्म शान्ति दे तो दोनों मिलकर विवेक का पूर्ण विकास सिद्ध होते है। धर्म और विज्ञान के समन्वय एवं संतुलन में ही विवेक की पूर्ण विजय है। और उसमें ही मनुष्य और मनुष्यता का सुखद भविष्य भी छिपा है।

—००—

३ व्यक्ति और समाज

समाज यथार्थ में केवल संज्ञा है—सत्ता नहीं। जो उसे सत्ता मान लेते हैं, उनकी चिन्तन दिशा प्रारम्भ से ही भ्रान्त हो जाती है। व्यक्ति उन के लिए अर्थहीन हो जाता है। उनकी दृष्टि से विकास और क्रान्ति का सम्बन्ध व्यक्ति से न होकर समाज के यांत्रिक ढांचे से होता है। इसका परिणाम भौतिक समृद्धि तो हो सकती है, लेकिन सच्ची स्वतंत्रता नहीं। ऐसी स्थिति में विकास वस्तुओं के तल तक ही रहता है, चेतना के स्तर पर वह नहीं पहुंचता। विश्व की आज यही स्थिति है। मानव के आधिभौतिक साधन बढ़े हैं। जितनी आधिभौतिक सामग्री उसे आज उपलब्ध है उतनी शायद इसके पूर्व कभी नहीं रही। परन्तु दूसरी ओर मानव का भीतरी सत्व कम हुआ है। बाह्य समृद्धि की प्रचुरता पर भी मनुष्य भीतर से दरिद्र हो गया है और अधिकाधिक दरिद्र होता जा

रहा है। ऐसे आधिभौतिक विकास को व्यक्ति के हित को ध्यान में रखकर हम सच्चा विकास कहने में असमर्थ है। जिस तेजी से यह हो रहा है, यदि भविष्य में भी ऐसी ही स्थिति रही, तो मानव समाज भी वैसा ही यांत्रिक हो जायेगा जैसा चींटियों और मधुमक्खियों का समूह होता है।

जैसा ऊपर कहा गया है वस्तुतः सत्ता समाज की न होकर व्यक्ति की होती है। समाज की सत्ता तो व्यक्ति सत्ता का जोड़ मात्र है। समाज के पास व्यक्ति की सजीव आत्मा नहीं है, वह तो एक यांत्रिक ढांचा मात्र है। उसे व्यक्ति के ऊपर नहीं रखा जा सकता, व्यक्ति ही प्रमुख और वही सजीव प्राण है। समाज में जो भी विकास और जो भी स्थिति फलित होगी, उसका अंकुरण व्यक्ति के माध्यम से ही होगा। व्यक्ति के हृदय में जो तरंगें आन्दोलित होता हैं, उनका जोड़ ही समाज बनता है। व्यक्ति यदि अलग-अलग स्वर है तो समाज उन स्वरों का इकट्ठा संगीत है। यथार्थ में संगीत के लिए स्वरों को साधना होता है। वह तो स्वरों का सामूहिक परिणाम है। जो स्वरों को पृथक कर संगीत पर ध्यान रखेगा उसके स्वर तो सो ही जायेंगे, संगीत की कभी उत्पत्ति ही न होगी। प्रत्यक्ष में संगीत अवश्य दिखाई देता है पर यथार्थ में स्वर उसके पीछे रहते है। स्वरों की पृथक अनुभूति नहीं होती लेकिन सच्ची सत्ता उन्हीं की है।

व्यक्ति को इकाई मानना आत्मा को स्वीकृति देना है, और समाज को इकाई मानना शरीर को, क्योंकि समाज के पास केवल शरीर है, आत्मा नहीं। इससे ही यह भी समझ में आ सकेगा कि जबसे पदार्थवादी विज्ञान प्रमुख हुआ है और संसार में भौतिकवादी विचार धाराएं अग्रणी हुई हैं, तभी से व्यक्ति गौण और समाज प्रमुख होता गया है। इस भांति की जो शरीरवादी और व्यक्ति विरोधी धारणाएं है उनके परम तार्किक निष्कर्षो में व्यक्ति का कोई स्थान नहीं है। आज जिसे प्रगतिशील माना जा रहा है यदि उस प्रगतिशीलता की इसी प्रकार प्रगति होती रही, तो अंततः समाज ही शेष रह जायेगा। समूहवादी व्यक्ति को इस प्रकार ढालना चाहते हैं कि उसके व्यक्तित्व का सर्वथा लोप हो जाये और वह समाज के यंत्र का एक कल पुर्जा बन जाये। इन विचारकों ने स्पष्ट कहा है कि व्यक्ति केवल समाज के लिए है, समाज उसके लिए नहीं। विज्ञान मूलतः पदार्थ और पदार्थ के अनुसंधान पर आधारित है इसी लिए उसका भी व्यक्ति विरोधी होना स्वाभाविक है। क्योंकि पदार्थ के जगत में व्यक्ति नहीं होते, केवल सार्वजनिक नियम होते हैं। व्यक्तित्व मूलतः मानसिक और आत्मिक धरातल पर निर्मित होता है और इसीलिए व्यक्ति जितना आत्मा

में प्रविष्ट होता जाता है, उतना ही उसे सच्चा व्यक्तित्व उपलब्ध होता जाता है। जब व्यक्ति पूर्ण व्यक्तित्व को उपलब्ध करता है तो वह अपने आप में एक अलौकिक इकाई बन जाता है। वह प्रकृति के नियमों का प्रमाण नहीं, वरन् अपवाद सिद्ध होता है। इसीलिए विज्ञान जहां व्यक्ति विरोधी है वहां धर्म व्यक्ति-मूलक है। मनुष्य के भीतर आत्मा का अंगीकार ही उसके व्यक्तित्व की स्वीकृति है, क्योंकि आत्मा ही जीवन में एकमात्र निजी घटना है। किंतु आज तो आत्मा और व्यक्तित्व निरंतर क्षीण होते प्रतीत होते हैं। शायद इसका मुख्य कारण यही है कि हम व्यक्ति की गरिमा, उसके गौरव, उसकी महत्ता को हटाकर समाज को इनका स्थान दे रहे हैं।

इसका यह अर्थ नहीं है कि हम समाज के मूल को अस्वीकार करते हैं। इसका केवल यही अर्थ है कि समाज में जो घटित हो सकता है, उसका आधार हम व्यक्ति को ही मानते हैं। व्यक्ति के माध्यम से ही और व्यक्ति के द्वारा ही समाज का सच्चा विकास–उत्कर्ष व उत्क्रान्ति हो सकती है। यदि संसार को और मानवता को सही दिशाएं देनी हैं तो व्यक्ति की इस मौलिक सृजनात्मकता को स्वीकार करना होगा। व्यक्ति की ही सच्ची प्रतिष्ठा से समाज में हम मात्र सभ्यता की जगह संस्कृति को भी उत्पन्न कर सकेंगे। जिन समूहवादी विचारकों का व्यक्ति को छोड़ केवल समाज पर ही ध्यान है, वे केवल सभ्यता ही पैदा कर रहें हैं और पैदा कर सकेंगे, संस्कृति का जन्म तो व्यक्ति के हृदय में होता है। सभ्यता बाह्य औपचारिकता है और संस्कृति आन्तरिक परिष्कार। आज का दुःख और दुर्भाग्य यही है कि हम केवल सभ्य होते जा रहे है और संस्कृति की हमारी सारी जड़ें टूटती जा रही हैं। जैसे समाज का निर्माण आज हो रहा है, उसकी अपेक्षा तो वह समाज वरणीय होगा जो सुसंस्कृत हो चाहे सभ्य न हो। इसी लिए जिन्हें हम असभ्य कहते है उनमें भी कभी हमें सभ्यों से अधिक परिष्कृत मनुष्यों के दर्शन हो जाते हैं। सभ्यता खोकर भी संस्कृति चुनी जा सकती है किन्तु संस्कृति खोकर सभ्यता का चुनना आत्मघात है।

---

४. सच्चिदानंद

जीवन को पा लेना एक बात है। यह जीवन तो हर चेतन प्राणी को प्राप्त रहता है और मानव को भी। परन्तु जो जीवन को पाकर जीवन को जानने

की क्षमता रखता है, वह मानव ही है अन्य कोई प्राणी नहीं। और मानव भी जीवन को पाकर यदि उसे न जान पाये तो वह मानव भी सच्चा मानव नहीं है। अधिकांश मनुष्य भी जीवन को पा तो लेते है, पर उसे जान नहीं पाते। उनके समक्ष जीवन का यथार्थ अर्थ और अभिप्राय अप्रकट ही रह जाता है। वे जीते हैं। जी लेते हैं, किन्तु मनुष्य की दृष्टि से उन्हें सच्चे अर्थ में जीवित भी नहीं कहा जा सकता। हमने सुना है कि बुद्ध के समय भिक्षुओं के वय की तब से गणना की जाती थी, जब से वे जीवन के वास्तविक स्रोत से परिचित हो जाते थे। एक बार एक भिक्षु बुद्ध के दर्शन के लिए गया। जब बुद्ध ने उसकी आयु पूछी, तब उसने कहा—"केवल चार वर्ष!" क्योंकि शेष समय तो मैंने अंधकार में व्यर्थ ही गंवाया और अब मानता हूं कि जब जीवन को नहीं जानता था, तब जीवित भी नहीं था।" ऐसा ही ईसा के सम्बन्ध में भी एक उल्लेख है। ईसा से उनके किसी भक्त ने पूछा—मेरे पिता की मृत्यु हो गयी है, मैं जाऊं और उनकी अंत्येष्टि कर शीघ्र ही लौट आऊंगा। ईसा ने उतर दिया—"मुर्दो को मुद की अन्त्येष्टि करने दो।" ईसा का यह वचन बहुत आश्चर्यजनक जान पड़ता है। किन्तु यथार्थ में बहुत अर्थपूर्ण भी है। इसी प्रकार ईसा ने एक बार यह कहा था– "मैं तुम्हें तुम्हारी कब्रों से उठाने आया हूं।" उस समय भी उनका संकेत इसी सत्य की ओर था कि जिसे हम जीवन मानते है, यह यथार्थ में जीवन है ही नहीं। वास्तविक जीवन को जानने के लिए केवल जीवन पाना अथवा जन्म लेना ही पर्याप्त नहीं है। उसके लिए तो साधना कर दुबारा जन्म लेना पड़ता है। ऐसे द्वितीय बार जन्म लेने वालों को ही "द्विज–संज्ञा" दी गई है और कहा गया है—जन्मने जायते शुद्र संस्कारात् द्विज उच्यते।"

जो व्यक्ति धर्म—साधना से इस प्रकार के द्वितीय जन्म को उपलब्ध नहीं करते, उनका जीवन असत्, अचित् और निरानन्द में व्यतीत होता है। उन्हें यह बोध ही नहीं होता है कि उनकी कोई सत्ता या सत् स्थिति है। इसी लिए वे सदा मृत्यु से भयभीत रहते है। अपनी मृत्यु से और अपने स्वजनों की मृत्यु से। मृत्यु का भय इस बात की सूचना है कि सत् का बोध नहीं हुआ। पहले स्वयं के भीतर इस सत् का बोध होता है और इस बोध के बाद अपनी और अपने स्वजनों की अथवा किसी की भी मृत्यु का भय असम्भव हो जाता है। मृत्यु के साक्षात पर जो अभय में प्रतिष्ठित होता है, वही केवल जीवन को जानता है। मृत्यु को हम किस भावना से लेते हैं, उससे ही प्रकट होता है कि हमने जीवन को जाना या नहीं। क्योंकि उस तत्व की जिसे सच्चा जीवन कहा जा

सकता है। कोई मृत्यु है ही नहीं। जीवन और मृत्यु विरोधी सत्ताएं हैं। जो जीवन हैं, उसकी कोई मृत्यु नहीं होती। और जो मृत्यु है उसका कोई जीवन नहीं, किन्तु इन दोनों के संयोग हो सकते हैं। उस संयोग को ही हम जीवन मान लेते हैं। यही भूल है। मनुष्य या अन्य कोई भी प्राणी इन दोनों धाराओं के मेल से ही उत्पन्न होता है। उसकी देह पदार्थ से बनती है, जो कि मृत है और उसकी आत्मा जीवन से जो अमृत है। इन दोनों के मिलन का परिणाम हमें जीवन–जैसा भास होता है और वियोग मृत्यु–जैसा; जबकि पदार्थ सदा ही भूत है और चैतन्य सदा ही जीवित। जो शरीर को ही स्वयं का होना मान लेते हैं, वे ही मृत्यु के भय का अनुभव करते हैं। शरीर के भीतर प्रवेश कर उस सत्य को अनुभव करना जो कि शरीर नहीं हैं समस्त धर्म–साधनाओं का लक्ष्य है। इस अशरीरी चैतन्य का अनुभव उसी समय होता है जब शरीर को और उसकी समस्त इन्द्रियों को मृतक की भांति निस्पन्द और निष्क्रिय छोड़ दिया जाये। और हमारी चेतना किसी विषय को नहीं, वरन् मात्र स्वयं को जाने। दीपक अन्यों को प्रकाश देने के पहले स्वयं को प्रकाशित करता है, किन्तु चित्तवृत्तियों के पूर्ण निरोध पर ही उसे इस स्वयं प्रकाशकर्ता का अनुभव हो पाता है। इस अनुभव का प्रथम बोध सत् है। ज्ञात होता है कि मेरी सत्ता है। सत्ता सदा ही अमृत है। परिणामतः मृत्यु –भय विलीन हो जाता है। दूसरा बोध होता है चित् का, मैं केवल हूं ही नही, चेतन भी हूं। क्योंकि यदि मैं चेतन नहीं तो मुझे सत्ता का भी बोध नहीं हो सकता था, सत्ता का बोध ही चित् है। सत्ता का एवं सत् तथा चित् का दूसरे शब्दों में सत्ता और चैतन्य का मिलन ही आनन्द------बन जाता है। यही भय दुःख है कि मैं और मेरे स्वजन मिट सकतें है। यही अभय आनन्द बन जाता है कि यथार्थ में किसी के मिटने की कोई सम्भावना ही नहीं है। यही चिन्ता दुःख है कि मैं अथवा मेरे समीपवर्ती जड़ हो सकते हैं और यही निश्चय कि यथार्य में सब कुछ परम चैतन्य है, आनन्द बन जाता है। अमृत सत्ता एवं पूर्ण चेतना की अनुभूति ही आनन्द को जन्म देती है। सच्चिदानन्द के इस छोटे सूत्र में इसी परम सत्य को प्रकट किया गया है। वह अनुभूति शब्दों में नहीं कही जा सकती, तथापि इस अनुभूति का संकेत इन शब्दोंद्वारा किया गया है। इस सूत्र से अधिक बहुमूल्य और सारगर्भित अन्य कोई सूत्र नहीं है। आध्यात्मिक रसायन का समस्त सार इस सूत्र में अन्तर्गर्भित है। जो सच्चिदानन्द में प्रतिष्ठित हो जाते हैं, उन्हें परमात्मा की उपलब्धि हो जाती है।

समाचार विभाग

धर्म चक्र प्रवर्तन
आचार्यश्री के देश व्यापी कार्यक्रम

"सत्य का द्वार है: शून्य। मिटो ताकि उसे पा सको। जो मिटते हैं, वे अमृत को पा लेते हैं।"

जबलपुर में विशाल जनसभा

११ नवंबर की रात्रि को पूज्य आचार्यश्री को सुनने के लिए हजारों नर-नारी लार्डगंज जैन मंदिर में इकट्ठे हुए थे। मंदिर के विशाल प्रांगण में एक इंच भी जगह खाली नहीं थी। मंदिर के बाहर भी सैकड़ों व्यक्ति मार्ग पर खड़े होकर उनकी वाणी सुन रहे थे। उन्हें सुनना भी एक अनुभव है। हृदय से जो शब्द आते हैं, वे हृदय तक पहुंच भी जाते हैं। ऐसे शब्दों को कान ही नहीं सुनते, प्राण भी सुन लेते हैं।

आचार्यश्री ने कहा:—"सत्य और स्वयं के बीच अहंकार के अतिरिक्त और कोई बाधा नहीं है। इसलिए ही जो स्वयं को खोता है, वही उसे पाता है। स्वयं को खोने के मूल्य पर ही परमात्मा पाया जाता है। साहस करो और मिट जाओ। मृत्यु तो मिटायगी ही.....क्या उसके पूर्व हम स्वयं ही अपने 'मैं' को नहीं खो सकते हैं? और जो अहंकार से शून्य हो जाता है फिर उसे मृत्यु भी मिटाने में असमर्थ हो जाती है, क्योंकि अहंकार के धुयें के जाते ही उस आत्मा के दर्शन होते हैं, जिसकी कि कोई मृत्यु नहीं है।"

"मित्र, शांति के दर्पण बनो ताकि परमात्मा का चन्द्रमा तुममें प्रतिफलित हो सके।"

मलाड बंबई, में साधना शिविर :

२०, २१ और २२ नवंबर को पूज्य आचार्यश्री के सान्निध्य में मलाड, बंबई में एक साधना शिविर हुआ। इस शिविर में बड़ी संख्या में साधकों ने भाग लिया। आचार्यश्री ने अविचार, विचार और निर्विचार पर तीन प्रवचन दिये। उन्होंने कहा : "जीवन अपनी पूर्णता में केवल उस चित्त के समक्ष ही प्रकट होता है, जो कि निर्विचार को उपलब्ध हो जाता है। विचार बाधा है। विचार की विक्षिप्त तरंगें चित्त को मौन और शून्य नहीं होने देती हैं। और जब तक चित्त मौन, शांत और शून्य नहीं है, तब तक वह ऐसा दर्पण नहीं बन पाता है जो कि सत्य को प्रतिफलित कर सके। सत्य तो निकट है लेकिन हम शांत नहीं हैं। पूर्णिमा का चांद तो आकाश में हैं लेकिन झील विक्षुब्ध है। इसलिये उसे नहीं जान पा रही है। जैसे ही झील शांत होगी चांद उसके हृदयों के हृदय में विराजमान हो जावेगा। इसलिए, मैं कहता हूं: मौन—मौन—मौन—मौन हो जाओ ताकि तुम उसे सुन और जान सको जो कि परमात्मा है। मित्र, उसे जानते ही जीवन एक आनन्द, एक संगीत और एक सौन्दर्य बन जाता है।"

"अहिन्सा है आनन्द का फल और आनन्द ? आनन्द है आत्मज्ञान का आलोक।"

लायन्स क्लब, पूना में :

पूज्य आचार्यश्री ४ दिसंबर को लायन्स क्लब, पूना के वार्षिक अधिवेशन में प्रमुख अतिथि के रुप में पधारे। इस अवसर पर उन्हें सुनने के लिए वृहत्त जनसमूह उपस्थित हुआ था। आचार्यश्री ने वहां कहा : "मनुष्यता आत्मघाती प्रवृत्तियों से पीडित है।५ हजार वर्षों के छोटे से इतिहास में १४ हजार ६ सौ युद्ध हुए हैं। और अब तो उस युद्ध की तैयारी चल रही है जो कि मनुष्य का ही नहीं, वरन् जीवन मात्र की पृथ्वी से समाप्ति बन सकता है। इस रुग्णता के मूल में क्या है? इसके मूल में है आनन्द का अभाव। दुखी व्यक्ति दूसरों को भी दुःख देना चाहता है। बस यही एक सुख उसके जीवन में होता है। इससे ही हिंसा जन्मती है। और हिंसा के रस में वह स्वयं की भी आहूति दे सकता है। जीवन में आनन्द हो तो ही अहिंसा हो सकता है। अहिंसा, प्रेम और करुणा,

आनंद से ही प्रवाहित होते हैं। हिंसा, घृणा और क्रूरता दुःख की संततियां हैं। इसलिए मैं कहता हूं कि मनुष्य के प्राणों में आनंद को संचारित करो। उसके चित्त को संगीतपूर्ण बनाओ। उसके हृदय को आलोकित करो। इसके अतिरिक्त उसे बचाने का और कोई उपाय नहीं है। और यह कैसे होगा? आनंद आत्म-ज्ञान का फल है। जो स्वयं को जान लेता है वह अनायास ही अनन्द से भर जाता है। स्वयं को जानते ही अंतस के सारे संताप वैसे ही विलीन हो जाते हैं, जैसे प्रकाश के आगमन से अंधकार विदा हो जाता है। वस्तुतः तो अंधकार की अपनी कोई सत्ता ही नहीं है। वह तो प्रकाश की अनुपस्थिति मात्र है। एसे ही दुःख की भी अपनी सत्ता नहीं है। वह भी आत्म ज्ञान का अभाव है। और आत्मा है निकटतम। वही है हमारा होना। बस उसके प्रति जागना है। जागो बाहर के प्रति जागो। होश से भरो। अमूर्च्छित बनो। फिर वह जागरण ही भीतर के प्रति लाओ। मन के प्रति जागो। जागरण.....सतत जागरण अंततः उसके प्रति जगा देता है जो कि मैं हूं। और उसे जानते ही सब बदल जाता है। आलोक के साथ ही आता है आनंद और आनन्द के साथ ही आती है : अहिंसा। अहिंसा ऊपर से नहीं थोपी जा सकती, वह तो आती है.....आनन्द के पीछे आती है।"

"मैं कहता हूं असंतोष : दिव्य असंतोष क्योंकि वही परमात्मा का मार्ग है।"

विद्यार्थियों और युवकों के मध्य : पूना :

आचार्यश्री ने ५ दिसंबर की रात्रि में पूना के युवकों और विद्यार्थियों की एक सभा को संबोधित किया। उन्होंने कहा, "जीवन मिलता नहीं–निर्मित करना होता है। जो मिले हुए जीवन से ही तृप्त हो जाता है, वह जीवन को पाने का अवसर ही खो देता है। जीवन है एक सृजन.....सतत, अहर्निश सृजन। जीवन है एक कला.....एक शिल्प। और प्रत्येक है स्वयं अपना शिल्पी। जो मिला है जन्म से वह तो अनगढ पत्थर है। उसे प्रतिमा बनाना हमारे हाथों में है। इसलिये जो मिला है उससे ही संतुष्ट न हो जाना। ऐसा संतोष तो मृत्यु बन जाता है। इसलिए मैं कहता हूं : असंतोष.....दिव्य असंतोष में जलो। सृजन के लिये.....आत्मसृजन के लिये जो निरंतर असंतुष्ट है केवल वही और केवल वही जीवन के बीज को उस विकास तक पहुंचा पाता है, जिसका नाम कि परमात्मा है।"

"प्यास, और प्यास, और प्यास''''क्योंकि प्यास ही अंततः तृप्ति बन जाती, है।"

अहमदनगर महाविद्यालय में सत्संग :

पूज्य आचार्यश्री अहमदनगर महाविद्यालय के आमंत्रण पर ६, ७, ८ दिसंबर के लिए यहां पधारे। उन्होंने महाविद्यालय में तीन प्रवचन दिये। विषय था : सत्य की खोज। उन्होंने कहा : "सत्य की खोज के लिये चाहिये ज्वलंत प्यास, ऐसी प्यास जो सत्य के अतिरिक्त और किसी भी चीज से तृप्त न हो। सिद्धांतों, शब्दों और शास्त्रों से जो तृप्त हो जाते हैं, वे वस्तुतः प्यासे ही नहीं हैं। क्या वस्तुतः प्यास हो तो कोई पानी की बातों से तृप्त हो सकता है? और प्यास गहरी होती जाये तो अंततः वही प्राप्ति बन जाती है, क्योंकि जो सरोवर उसे बुझा सकता है, वह तो सदा ही है और साथ ही है। वह तो स्वयं के भीतर ही है।"

"स्वतंत्र बनो। तोड़ो चित्त की जंजीरों को। मुक्ति की प्रथम शर्त यही है"

अहमदनगर जैन स्थानक में :

पूज्य आचार्यश्री ८ दिसंबर की प्रभात जैन स्थानक, अहमदनगर में पधारे। उन्होंने वहां कहा : "परमात्मा की दिशा में सबसे बड़ी बाधा क्या है? परतंत्रता... परंतंत्र चित्त ही सबसे बडी बाधा है। चित्त को स्वतंत्र बनाओ .....शब्दों, सिद्धांतों और शास्त्रों की कारागृह से स्वयं को बाहर लाओ। मनुष्य स्वयं ही परंपराओं की कड़ियों में स्वयं को बांधे है। और इन्हें तोड़े बिना सत्य के सागर में कोई गति नहीं हो सकती है। अज्ञात में जाने के लिए ज्ञात को छोड़ना ही पड़ता है।"

"परमात्मा है प्रकाश की भांति। उसे जानने को चाहिये प्रज्ञा की आंखें"।

छिन्दवाड़ में जनसभा :

पूज्य आचार्यश्री १७ दिसंबर को छिन्दवाड़ा पधारे। एक विशाल जनसभा को उन्होंने संबोधित किया। इस सभा में उन्होंने कहा : "धर्म प्रकाश की भांति है, परमात्मा भी। उसे देखने को प्रज्ञा की आंखें चाहिये। अंधा आदमी प्रकाश के संबंध में विचार करे भी तो क्या करेगा? वह तो प्रकाश की कोई भी धारणा नहीं बना सकता है और जो भी कल्पना वह करेगा वह अनिवार्यतः गलत

होगी। इसलिए विचार से न प्रकाश जाना जा सकता है न परमात्मा। निर्विचार की आंख हो तो ही परमात्मा है। विचार के ऊहापोह में.....विचार की विक्षिप्त तरंगों में आंखें बंद हैं। विचारों को विदा दें और देखें। निर्विचार मौन में जिसका प्रत्यक्ष होता है, वही सत्य है। वही स्वयं की और सर्व की सत्ता है।"

"विवेकको चुनौती दो...संकट दो ताकि वह जाग सके। विश्वास तो विवेक की मृत्यु है।"

छिन्दवाड़ा में विचार गोष्टी :

१७ दिसंबर की दोपहर में आचार्यश्री के सत्संग के लिए एक गोष्ठी आयोजित हुई। आचार्यश्री ने गोष्ठी में कहा : "मैं विश्वास में ही मनुष्य का अंधापन देखता हूं। विश्वास नहीं, चाहिये विवेक, और विश्वास विवेक के जागरण में अवरोध बन जाता है। जीवन की प्रसुप्त शक्तियां जागतीं हैं चुनौती से। और विश्वास उस चुनौती को व्यर्थ कर देते हैं, जो कि विवेक को जगाती है। विश्वास उन सत्यों को मान लेता है जिन्हें जानता नहीं। ऐसे मानने से स्वभावतः ही जानने की यात्रा रुक जाती है। जानना है तो न मानो न ना मानो। मन को 'हां' या 'ना' से मुक्त रखो और खोजो। विश्वास, अविश्वास दोनों से स्वयं को मुक्त रखकर जो खोजता है, उसका विवेक इस चुनौती में ही जागृत हो सकता है।

जहां न विश्वास है, न अविश्वास। वहां एक संकट उपस्थित हो जाता है और उसी संकट में विवेक जागता है। और विवेक है द्वार.....विवेक है मार्ग। जीवन में जो भी शुभ है, सुन्दर है और सत्य है, वह सब उसी से पाया जाता है।"

—००—

"सत्य है सीमाओं से मुक्त चित्त में। और वहीं है प्रेम। और प्रेम परमात्मा का मंदिर है।"

चौरई में जनसभा :

पूज्य आचार्यश्री १८ दिसंबर को यहां पधारे। सैकड़ों मुमुक्षु जन उन्हें सुनने को एकत्रित हुए। उन्होंने अपनी अमृतवाणी से कहा, "धर्मों में नहीं, धर्म में त्राण

है, धर्मों ने ही तो धर्म के प्राण ले लिये हैं, हिन्दु, जैन, ईसाई, बौद्ध, मुसलमान.. इन नामों ने ही सब उपद्रव कर दिया है, इन नामों के कारण ही...इन देहों के कारण ही धर्म की आत्मा विस्मृत हो गई हैं। मैं धार्मिक व्यक्ति का पहला लक्षण यही मानता हूं कि वह किसी संप्रदाय और किसी सीमा में आबद्ध न होगा। वह तो सब सीमाएं छोड़ देगा ताकि असीम को जान सके। सीमाओं में बंधा चित्त असीम को नहीं जान सकता है। सत्य किसी सिद्धांत में नहीं है और न परमात्मा ही किसी चर्च या मंदिर में कैद है। सत्य तो है उस चित्त में जो सब सीमाओं से मुक्त है और परमात्मा है उस मंदिर में जिसकी कि कोई दीवार नहीं। कौनसा है वह मंदिर? वह मंदिर है प्रेम का। प्रेम ही है वह मंदिर जो कि परमात्मा का है।

"धर्म को धर्माचार्यों से ही वास्तविक संकटः।"

जबलपुर संत तारण तरण जयंती पर सर्व धर्म सम्मेलन में :

दिनांक १९ दिसंबर को जबलपुर नगर में आयोजित एक महती जनसभा की अध्यक्षता पूज्य आचार्यश्री ने की। यह जनसभा संत तारण तरण जयंती के अवसर पर सर्व धर्म सम्मेलन के रूप में आयोजित हुई थी। अपने अध्यक्षीय प्रवचन में आचार्यश्री ने कहा कि : "हमेशा से ही धर्म के आचार्य ने कहा है कि धर्म पर संकट है। कहा जाता है हिन्दू धर्म खतरे में है, कभी मुसलमान धर्म खतरे में है और इस तरह धर्माचार्य एक दूसरे को लड़ाने में हमेशा से ही सहायक हुए है। जितनी हिंसा दुनिया के इतिहास में धर्म के नाम पर हुई है, उतनी किसी और कारण नहीं। अतएव धर्म पर वास्तविक संकट उसके तथाकथित धर्माचार्यों से ही है। इन धर्माचार्यों के कारण ही व्यक्ति सिद्धांतों और शास्त्रों में उलझ जाता है, तथा अलग अलग नामों के घेरे में अपने को आबद्ध कर लेता है। यही धर्म पर आज सबसे बड़ा संकट है। धर्म को इन धर्माचार्यों से मुक्ति दिलानी है तभी पृथ्वी पर वास्तविक धर्म के विज्ञान का उदय हो सकेगा, क्योंकि धर्म का कोई संबंध किताबों में लिखे सिद्धांतों से नहीं, वरन् जीवन की जीवन्त अनुभूतियों से है।"

"मैं विद्रोह का स्वागत करता हूं, लेकिन अंधे विद्रोह का नहीं, आंखों-वाले विद्रोह का।"

मंडला महाविद्यालय में :

पूज्य आचार्यश्री २१ दिसंबर को मंडला पधारे। उन्होंने महाविद्यालय के

छात्रों को संबोधित किया। वे बोले: "विद्रोह की अग्नि जिस हृदय में नहीं है, वह हृदय मृत मांस पिंड है। विद्रोह ही जीवन है और विद्रोह ही है विकास। लेकिन ऐसा विद्रोह वहीं होता है जहां कि विवेक होता है। विवेकशून्य विद्रोह आत्मघात बन जाता है। और विवेक से युक्त विद्रोह है सृजन की ऊर्जा। विवेक को जगाओ और विद्रोही बनो। विवेक है ही विद्रोह की शक्ति। उस विद्रोह में मनुष्य के बंधन तोड़ो। उसकी मानसिक गुलामी तोड़ो। अतीत के मृत बोझ जला डालो। लेकिन स्मरण रहे कि विवेक न हुआ तो तुम स्वयं को ही जला डालोगे। और ऐसा ही हो रहा है। जिस शक्ति से युवक एक नये समाज का निर्माण कर सकते हैं, वे उससे स्वयं को ही अपंग किये ले रहे हैं। मैं तो विद्रोह का स्वागत करता हूं लेकिन अंधे विद्रोह का नहीं, आंखवाले विद्रोह का। अंधा विद्रोह एक अति से दूसरी अति पर ले जाता है। वह कुयें से निकलकर खाई में गिरना है। जबकि जीवन का विकास है मध्य में, आंखें हों तो ही हम मध्य के स्वर्ण पथ पर हो सकते हैं।

"जीवन की समस्त दौड़ों की अंतिम परिणति मृत्यु में।"

चिखलदरा साधना शिविर में :

२६, २७ एवं २८ दिसंबर को पूज्य आचार्यश्री के सान्निध्य में चिखलदरा (अमरावती) में एक त्रिदिवसीय साधना शिविर का आयोजन हुआ। शिविर में साधना की विविध भूमिकाओं पर आचार्यश्री ने प्रकाश डाला। आपने कहा, "जीवन भर व्यक्ति धन की, यश की, पद की दौड़ में दौड़ता है, और अपने को सुरक्षित पाना चाहता है। लेकिन अंतिम रूपसे जीवन की समस्त दौड़ें व्यक्ति को मृत्योन्मुखी करती हैं। इन दौड़ों से मृत्यु के पूर्व ही मनुष्य को जागना होगा और "जो है" उसकी ओर देखना होगा। इस परम तत्व को जानने से ही उसके जीवन में अमृत और आनन्द प्रवाहित होता है।" आपने आगे कहा कि अमृत और आनन्द को जीवन में खींच खींचकर नहीं लाया जा सकता। जिसे भी मनुष्य जीवन में लाता है, वह उससे बड़ा नहीं हो सकता। जो भी वह बनायेगा वह अत्यंत क्षुद्र होगा। मनुष्य सिर्फ अपने में द्वार दे सकता है फिर जो आयेगा वह बहुत विराट है। जो बाधायें हैं, उन्हें मात्र हटाके वह प्रतीक्षा कर सकता है। जो साधक यह समझता है कि वह साधेगा धर्म को, पा लेगा ईश्वर को और सत्य को, तब वह बड़ी भूल में पड़ जाता है। वे बातें उसके जीवन में हो सकती हैं, पर उसके द्वारा नहीं। इसलए जिसे हम साधु और संन्यासी कहते हैं, उसका अहं-

कार बहुत बड़ा हो जाता है। आप तो असार संसार को जीतने चले हैं वो तो ईश्वर को जीतने चला है। जो जीतने का भाव लेकर इस दिशा में आता है. उसकी हार सुनिश्चित है। समाधि तो हार से मिलती है, जीतने से नहीं। कोई बूंद सागर में गिरने को तैयार हो जाये तो वह सागर को पा लेती है। इस तरह अपने को मिटा देने पर जीवन में समाधि, चेतना में व्यक्ति प्रविष्ट हो जाता है और तभी अमृत तथा आनन्द के स्रोत उसके जीवन में प्रवाहित होने लगते हैं।

"शुभ के बीज बोओं छोटे ही सहीं, लेकिन कल वे ही मनुष्य की बगिया को सुवासित फूलों से भर देंगे।"

परतवाड़ा में विशाल जनसभा:

पूज्य आचार्यश्री २९ दिसंबर को परतवाडा, एलिचपुर पधारे। उनके स्वागत म एक विशाल जनसभा आयोजित हुई। इस सभाको संबोधित करते हुए उन्हों ने कहा : "मनुष्य हजारों वर्षों से दुःख और पीड़ा में जी रहा है। निश्चित ही उसके जीवन के बुनियादी आधार गलत हैं। शिक्षा भूल भरी है। संस्कृति रुग्ण है और सभ्यता, सभ्यता ही नहीं है। उसके जीवन का केन्द्र मोह है, प्रेम नहीं, प्रतिस्पर्धा मूलत: ईर्ष्या पर ही वह अपना भवन बनाता है। यह ऐसे ही है जैसे कोई अग्नि की लपटों में ही रहने का प्रयास करे! और छोटे छोटे बच्चों को भी हम महत्वाकांक्षा सिखाते हैं, जबकि समस्त आनन्द का आधार है गैर महत्वाकांक्षी चित्त। क्या यह नहीं हो सकता है कि हम बच्चों को महत्वाकांक्षा के ज्वर में दीक्षित न करें? हम उन्हें अहंकार की शिक्षा न दें। हम उन्हें ईर्ष्या के विष से दीक्षित न करें? यह हो सकता है। मित्रो, मैं कहता हूं कि यह हो सकता है, क्योंकि हम स्वभावत: दुःख को नहीं, आनन्द को ही चाहते हैं। घृणा को नहीं प्रेम को ही चाहते हैं। अशांति को नहीं शांति को ही चाइते हैं। मनुष्य स्वभावत: शुभ का, सत्य का और सुन्दर का आकांक्षी है। उसे सम्यक् दिशाएं मिले तो वह निश्चय ही पृथ्वी पर ही स्वर्ग बसा सकता है। नर्क तो हमने बसाकर देख ही लिया है। अब स्वर्ग भी बसाकर देखें। लेकिन यह कार्य कोई किसी अन्य पर नहीं छोड़ सकता है, प्रत्येक को ही यह करना होगा। संसार को नर्क बनाने में आपका जो सहयोग है उससे अपना हाथ खींच लें और चाहे कितनी ही छोटी शक्ति हो सुन्दर के और सत्य के सृजन में उसे लगायें और स्मरण रहे कि आज बोये गये फूलों के छोटे छोटे बीज कल मनुष्य की बगिया को सुगन्ध से भरे फूलों की मुस्कुराहट से भर सकते हैं।"

"युवा मन ही जीवन की श्रेष्ठतम सृजनात्मक कुन्जी"

जबलपुर में विश्वमैत्री संघ की संगोष्ठी :

जबलपुर के तरुण युवकों की संस्था, विश्व मैत्री संघ प्रतिमाह पूज्य आचार्यश्री के अमृत प्रवचनों का लाभ उठाती है। १ जनवरी को इसकी प्रथम चर्चा संगोष्ठी में आचार्यश्री ने कहा: "मृत आस्थायें और उधार विचार नहीं, वरन् जीवन मे स्वयं के प्रयोग करके ही युवक जीवन्त अनुभूतियों के जगत् में प्रवेश पाता है। नवीन से नवीन प्रयोग करने का साहस युवकों के विकास में सहयोगी होता है। इसके लिये चाहिये युवा मन। युवा मन का उम्र से कोई वास्ता नहीं। जो व्यक्ति जीवन के अंतरतम रहस्यों से परिचित होना चाहता है, उसे संपूर्ण शक्ति का प्रयोग इसी दिशा में करना अपरिहार्य है। तभी केवल व्यक्ति अपनी चेतना के लोक में आता है।

"जीवन के अर्थ को जानना है? तो चलो निर्विचार समाधि में, उसके अतिरिक्त सब व्यर्थ है।"

जालना में सत्संग :

पूज्य आचार्यश्री ३, ४, ५ और ६ जनवरी को जालना पधारे। उनके सान्निध्य से जालना में वैचारिक क्रांति की लहर ही फैल गई। उन्होंने यहां कहां, "विश्वासों को विचार के अस्त्र से छिन्न भिन्न कर दो। और फिर विचार को भी निर्विचार से विदा दे दो। और तब जो शेष रह जाता है, वही सत्य है। निर्विचार समाधि में ही पूर्ण जीवन के प्रति आंखें खुलती हैं। और यह आंखों का खुलना व्यक्ति को एक बिल्कुल ही अभिनव लोक में प्रतिष्ठा दे देता है। उस अज्ञात लोक को जाने बिना न तो जीवन में अर्थ है और न अभिप्राय। उसे जानकर अर्थ उपलब्ध होता है और कृतार्थता और धन्यता का अनुभव होता है।"

"सत्य जानना, यानी स्वयं में होना। तीन स्वर्ण सूत्र: शांति, सरलता और शून्यता।"

गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद में :

पूज्य आचार्यश्री १६,१७ जनवरी गुजरात विश्वविद्यालय के आमंत्रण पर अहमदाबाद पधारे। १६ जनवरी को उन्होंने अपने प्रथम भाषण में 'विज्ञान और धर्म' पर विचार प्रगट किये और १७ जनवरी को द्वितीय भाषण में जीवन

सत्य की खोज पर उन्होंने कहा: 'सत्य को जानने का मार्ग विचार नहीं है। विचार तो स्वयं से दूर ले जाता है। स्वयं में परिपूर्णतया होना ही सत्य को जानना है, उस भांति ही सत्ता से संबंध होता है। स्वयं में होने के लिये तीन स्वर्ण सूत्र है: शांति, सरलता और शून्यता। चित्त शांत, सरल और शुन्य हो तो सत्य के प्रति बंद आंखें अनायास ही खुल जाती हैं, और सत्य की अनुभूति सब कुछ बदल देती है....दृष्टि ,जीवन, गन्तव्य। सत्य को जाने बिना न जीवन में अर्थ है, न आनन्द है, न धन्यता है।"

"चित्त की परम स्वतंत्रता ही परमात्मा को पाने की पात्रता है।"

गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद में :

पूज्य आचार्यश्री १६ जनवरी की प्रभात गुजरात विद्यापीठ पधारे। उन्होंने अपने प्रवचन में विद्यार्थियों को 'मौलिक चिन्तना' और 'मानसिक स्वतंत्रता' के लिये प्रेरणा दी। उन्होंने कहा: "परमात्मा का द्वार उनके लिये सदा से बंद है जो कि मानसिक रूप से परतंत्र हैं। यह परतंत्रता है विश्वासों की, परंपराओं की, पक्षपातों की। स्वतंत्र चित्त विश्वासों के अंधकार से नहीं, विवेक के आलोक से मंडित होता है। विवेक ही स्वतंत्रता है। इसलिये उधार विश्वासों से तृप्त मत होना। विश्वास से अज्ञान मिटता नहीं, बस छिप जाता है। अज्ञान की मृत्यु के लिये तो जगाना होता है स्वयं के विवेक को। विवेक प्रकाश में और स्वतंत्रता में प्रतिष्ठा देता है। और ऐसी प्रतिष्ठा ही परमात्मा को जानने और पाने की पात्रता है।

"चित्त का निरीक्षण.....सतत निरीक्षण ही आत्मा पर ले जाता है, और वहीं परमात्मा है।"

सागर प्रगति मंडल, अहमदाबाद में :

पूज्य आचार्यश्री १७ जनवरी को प्रभात सागर प्रगति मंडल के युवकों के मध्य पधारे। उन्होंने उन्हें संबोधित करते हुये कहा: "मैं आत्मज्ञान के अतिरिक्त जीवन में आनन्द और आलोक का कोई मार्ग नहीं देखता हूं। वस्तुतः आत्मज्ञान ही ज्ञान है.... शेष सब तो अज्ञान है। आत्मज्ञान अपरोक्ष ज्ञान है। उसके लिये तो बस स्वयं का सम्यक् निरीक्षण चाहिये। चित्त के निरीक्षण से.. सतत निरीक्षण से क्रमशः उसका बोध अवतरित होता है, जो कि चित्त की ऊर्मियों के पीछे छिपा है। चित्त की वही पृष्ठभूमि आत्मा है। और उसे जान लेना जीवन के रहस्य को जान लेना है। और उसे जान लेना मृत्यु का

अतिक्रमण है। मृत्यु सत्य प्रतीत होती है, क्योंकि जीवन का बोध नहीं है। जहां जीवन जाना जाता है, वहां मृत्यु नहीं है। और वहीं वह है, जो परमात्मा है।"

"राग भी नहीं, विराग भी नहीं, "मंगलदायी तो है वीतरागता।"

माटुंगा, बंबई में जनसभा :

पूज्य आचार्यश्री १८ जनवरी को सुबह बंबई पधारे। माटुंगा में एक महती सभा को संबोधित करते हुये उन्होंने कहा : "जीवन विनाश की दो अतियां हैं... राग और विराग, भोग और त्याग। दोनों ही असंयम हैं, असंतुलन हैं। संयम और संतुलन तो है वीतराग चित्तता में। वह तीसरी ही दिशा है। दिशा नहीं, वस्तुतः वह तो आत्मस्थिति है। मित्र, उस दिशा में ही चलें। वही शुभ है। वही मंगलदायी है। राग भी बाहर है। विराग भी। विराग तो राग की ही प्रतिक्रिया है। वह तो उसका ही शीर्षासन करता रूप है। राग से विराग पर जाना कुयें से बच खाई में गिरना है। इसलिये राग पर हों, तो वीतराग की ओर चलें। विराग पर हों, तो वीतराग की ओर चलें। जहां भी हों वहीं से वीतरागता की ओर गति करें। वीतरागता की ओर गति का उपकरण क्या है? उपकरण है : जागरुकता। अमूर्च्छा। सजगता। जीवन में... शरीर के तल पर या मन के तल पर.... कुछ भी मूर्च्छित न हो। जो भी हो होशपूर्वक हो.... स्मृतिपूर्वक हो। सम्यक् स्मृति क्रमशः द्वन्द्वों के पार उठा देती है। वह वहां पहुंचा देती है, जहां स्वयं की सत्ता है। और उस सत्ता का बोध ही मुक्ति ले आता है। उसमें जाग जाना ही मोक्ष है। वही आलोक है। वही आनन्द है। वही अमृत है। वही वह है, जो कि अनादि है और अनन्त है।"

"विश्वास नहीं विवेक : जीवन सत्य के उद्घाटन का मार्ग :"

पिपरिया विद्यार्थियों एवं नागरिकों की जनसभाओं में :

पूज्य आचार्यश्री २६ जनवरी को पिपरिया गणतंत्र दिवस के उपलक्ष्य में पधारे। आपने यहां पर माध्यमिक उच्चतर विद्यालय के विद्यार्थियों और नागरिकों की सभाओं को उद्बोधित किया। आपने कहा कि : "जो व्यक्ति ज्ञान से और विवेक से जीता है, वह प्रकाश में जीता है और जो विश्वास में जीते हैं, वे अंधकार में जीते हैं। यदि ऊपर से प्रश्न आये आत्मा है और अंदर से जबाब न आये तो उस सन्नाटा में खोज प्रारंभ होगी। धार्मिक शिक्षा का अर्थ है : खोज की जिज्ञासा का पैदा करना। जिस व्यक्ति में खोज पैदा हो जाये, वह

जीवन के सत्य के करीब है। मनुष्य को बांधनेवाली कड़ी है : विश्वास। इसलिये मानना मत। जब तक कि युवक के प्राणों से प्रश्न न आये कि ईश्वर है, तब तक मानना मत। जिन्हें जीवन के सत्य को जानना है, वे विश्वास की घास-पात को उखाड़कर फेंक देते हैं। जब ऐसा होगा तो दुनिया में शोषण और हत्यायें बंद हो जायेंगी।

बच्चों के लिये तो ठीक मनुष्य की स्थिति तक पहुंचाने के लिये यह आवश्यक है कि उन्हें विचार की, स्वतंत्र चिन्तन की दिशा की ओर उन्मुख किया जाये। जब तक उनके प्राण किसी तथ्य को अभिव्यक्त न करें, उन्हें विश्वास आत्मघाती प्रवंचना में न रखा जाये। सत्य की पहली शर्त है कि मनुष्य को स्वतंत्र होना होगा। 'स्वतंत्र चिन्तन' से दुनिया की सारी मूर्खतायें ज्यादा दिन नहीं चलेंगी। विचार करना गुरुतर है। विश्वास करना खतरनाक है, क्योंकि विश्वास स्वयं की ज्योति को जाग्रत नहीं होने देता।

"शरीर और मन से संघर्ष नहीं: प्रेम"

विश्व मैत्री संघ, जबलपुर की संगोष्ठी में:

२९ जनवरी को पूज्य आचार्यश्री ने विश्व मैत्री संघ के सदस्यों को एक चर्चा संगोष्ठी के मध्य उद्‌बोधित किया। आपने चर्चा के दौरान युवकों के समक्ष 'काम और प्रेम' पर वैज्ञानिक जीवन दृष्टि को स्पष्ट करते हुये कहा, "पश्चिम ने शरीर के तल पर भोगकी अति की और भारत ने शरीर की इच्छाओं को दमित कर, शरीर को अति कष्ट में रखकर दूसरी अति की। ये दोनों ही अतियां हैं। मैं कहता हूं कि शरीर तो परमात्मा का द्वार है और उसीसे होकर परमात्मा की चित्त स्थिति में व्यक्ति पहुंचता है। इससे शरीर को प्रेम से स्वीकार करो। और प्रेमपूर्ण चित्त की मनःस्थिति में ही जब व्यक्ति प्रकृति के सहजमत सृजन काम के माध्यम से संतति को जन्म देता है, तो एक बहुत अलग प्रकार की दुनिया का निर्माण संभव हो सकेगा। अभी तो जिन बच्चों को जन्म मिलता है, वह तनाव और घृणा की मनःस्थिति के बीच मिलता है, परिणाम में बच्चे भी वैसे ही होते हैं। लेकिन शरीर के तल पर ही व्यक्ति को नहीं रुक जाना है। शरीर के बाद मन का तल है। मन में बड़ा संघर्ष है और तनाव है। अपने मन को पूर्णतः स्वीकार करके और मन से मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित करके ही मन के प्रति समझ विकसित करके व्यक्ति चेतना की शांत और अतल गहराइयों में प्रवेश करता है। जीवन में शरीर और मन के प्रति जो प्रेम से भरता है, वही केवल जीवन के समस्त तलों पर प्रेम को बिखेरता है।"

"महत्वाकांक्षा नहीं काम के प्रति प्रेम।"

जूनियर टैक्नीकल हायर सैकेन्डरी स्कूल, जबलपुर में :

२ फरवरी को पूज्य आचार्यश्री ने जबलपुर के जूनियर टैक्नीकल विद्यालय द्वारा आयोजित वार्षिक स्नेह सम्मेलन और विज्ञान प्रदर्शनी का उद्घाटन किया। अपने उद्घाटन प्रवचन में आपने व्यक्ति के जीवन निर्माण की दिशा को अंतर्गत की गहराईयों को छूते हुये स्पष्ट किया। आपने कहा, "छोटे छोटे बच्चों को प्रारंभ से ही महत्वाकांक्षा के ज्वर से ग्रसित कर दिया जाता है। सिखाया जाता है कि दूसरों से आगे बढ़ो। जबकि जब भी यह सिखाया जायेगा कि दूसरों से आगे बढ़ो तो हिन्सा प्रारंभ हो जाती है। यह जीवनदृष्टि ही हिन्सा और संघर्ष पर चलती है। मैं आपसे कहता हूं कि बच्चों को यह सिखायें कि अपने से आगे बढ़ो। यह बहुत ही प्रेमपूर्ण जीवन दृष्टिकोण होगा और परिणाम में अद्भुत शिल्प तथा कला का जन्म संभव हो सकेगा। व्यक्ति को जन्म को पा लेना कोई बात ही नहीं है, वह तो मात्र बीज रूप है। इस बीज की सार्थकता और धन्यता तब तक नहीं है, जब तक कि यह पूर्णतः विकसित होकर अपने को फूल और फलों तक न पहुंचा दे। और यह तभी संभव है जबकि मनुष्य चित्त महत्वाकांक्षा से नहीं, अपने को पूर्णतः समझकर और स्वीकार कर, नित प्रति अपने से ही आगे बढ़ने को उद्यत रहेगा।"

आचार्य श्री रजनीशजीके आगामी कार्यक्रम

ता. ३ मार्च ६७–	वल्लभ विद्यानगर, आणंद (गुजरात)
" ४–५–६ मार्च ६७–	एच. के. आर्ट्स कालेज हॉल. अहमदाबाद
" १२ मार्च ६७–	विश्वमैत्री संघ, जबलपूर
" २०–२१–२२–२३ मार्च ६७–	क्रोस मैदान, बम्बई
" १–२–३ अप्रैल ६७–	साधनाश्रम, हैद्राबाद–१२
" ९ अप्रैल ६७–	कटनी, म. प्र.
" १४–१५–१६ अप्रैल ६७–	साधना शिबिर, जूनागढ़ (सौराष्ट्र)

STATEMENT ABOUT OWNERSHIP AND OTHER PARTICULARS ABOUT "JYOTI SHIKHA"

FORM 4th (see Rule 8)

1.	Place of Publication ...	Jivan Jagruti Kendra, 505, Kalbadevi Road, Bombay-2.
2.	Periodicity of its Publication	Quarterly.
3.	Printer's Name	Ramanlal C. Shah.
	Nationality	Indian.
	Address	505, Kalbadevi Road, Bombay-2.
4.	Publishers' Name... ...	Ramanlal C. Shah.
	Nationality	Indian.
	Address	505, Kalbadevi Road, Bombay-2.
5.	Editor's Name	Jatubhai Mehta.
	Nationality	Indian.
	Address	32, Princess Street, Bombay-2.
6.	Names and Addresses of Individuals, who own the newspaper and partners or shareholders holding more than one p.c. of total capital.	Jivan Jagruti Kendra, 505, Kalbadevi Road, Bombay-2.

I, Ramanlal C. Shah, hereby declare that the perticulars given above are true to the best of my knowledge, and belief.

Date : 27th February, 1967.

Ramnlal C. Shah
Signature of publisher.

जीवन जागृति केन्द्र, बम्बई द्वारा प्रकाशित
आचार्य रजनीश साहित्य

हिन्दी साहित्य :

१.	साधना पथ	मू. रु. २-००
२.	क्रांति बीज	,, ,, २-००
३.	सिंहनाद	,, ,, १-२५
४.	अमृतकण	,, ,, ०-४०
५.	पथ के प्रदीप	,, ,, ४-५०
६.	मिट्टी के दिये	,, ,, ३-००
७.	अहिंसा दर्शन	,, ,, ०-४०

गुजराती साहित्य :

१.	साधना पथ	,, ,, २-००
२.	क्रांति बीज	,, ,, २-००
३.	सिंहनाद	,, ,, १-००
४.	अहिंसा दर्शन	,, ,, ०-३५
५.	अमृतकण	,, ,, ७-४०
६.	माटीना दिवा	,, ,, ३-००

मराठी साहित्य :

१.	साधना पथ	,, ,, ३-००
२.	सिंहनाद	,, ,, २-००
३.	अमृतकण	,, ,, ०-५०

अंग्रेजी साहित्य :

१.	पाथ आफ सेल्फ रियेलायजेशन	,, ,, २-२५